यत्किञ्चित्

किसी भी देश की आन्तरिक एवं वास्तविक स्थिति का आकलन उस देश की सांस्कृतिक प्रौढ़ि के आधार पर किया जाता है। संस्कृति कोई मूर्तरूप वस्तु नहीं होती जिसे सबके समक्ष यों ही सरलता से उपस्थित किया जा सके, वह तो तिल में तेल के समान देश के कण-कण में समाहित होती है। उसे देखने के लिये स्थूल दृष्टि की अपेक्षा सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि की अवश्यकता होती है। अतः क्रान्तदर्शी कवि अपनी प्रखरतम प्रज्ञा से उसका साक्षात्कार करता है तथा समुचित-ललित-सन्निवेशचारु काव्य की कोमलकान्तपदावली से मधुरता का आधान करता हुआ उसे सर्वजन-संवेद्य बनाता है। जन-जन के मन में संस्कृति के राग को झङ्कृत करने वाला वीणावन्त्री कवि सांस्कृतिक ह्रास एवं पतन का प्रबलतम प्रहरी ही नहीं, अपितु सागर के क्षारीय जल को आस्वाद्यता प्रदान करने वाला वह जलद है जो मधुरिम काव्यधारा के द्वारा संस्कृतिसागर को उत्ताल-तरङ्गों से आप्लावित करता है। निरन्तर वर्षों से अनवरत एकरूपता को धारण करने वाले संस्कृति के ढ़ाँचे को वर्तमानकालिक समाज के साँचे में ढाल कर नवरूपता प्रदान करने वाला कारयित्री-भावना-मन्वित कवि तब तक अपने परिश्रम को सफल नहीं मानता जब तक भावयित्री-भावना-भावित भावक अपने आलोचनारूपी उपलोचन को रश्मियों से उसे परिपूत नहीं कर देता—

आपरितोषद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

उहीं भावनाओं के साथ संस्कृतसाहित्याकाशपटल पर संस्कृत-वाङ्मय की नूतन विधा काव्यशास्त्र का विकास हुआ, जो काव्याङ्गरूप में काव्यशास्त्रियों के द्वारा अभिमत है। शरीर, जीव, आत्मा, परमात्मा के पार्थक्य एवं पारस्परिक सम्बन्धों के विवेचक दार्शनिक सिद्धान्तों को, जो भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत थे, सरलतमरूप में सबको हृदयङ्गम

कराने वाले काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों एवं उनके सिद्धान्तों से विहङ्गमदृष्ट्या प्रत्येक सुरभारती-समुपासक को परिचित होना ही चाहिये। यह तत्त्वतः स्वीकार कर गोरखपुर विश्वविद्यालय तथा पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय के संस्कृत छात्रों के लिए चन्द्रमा के मधुर आलोक के समान ज्ञानालोक का प्रसार करने वाले, दार्शनिक कवि आचार्य जयदेव द्वारा विरचित, चन्द्रालोक का १-४ मयूख पाठ्यक्रम में निर्धारित किया गया है।

छात्रों के सहयोग के लिये इसे सुबोधगम्य एवं हृदयङ्गम बनाने की दृष्टि से सरलतम संस्कृत व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। ग्रन्थग्रन्थियों को विशेष टिप्पणी के द्वारा स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया गया है। ग्रन्थ के पूर्वापर प्रसङ्गप्रतिपादन में कहीं-कहीं अन्य आचार्यों के मतों को भी टिप्पणी में दिया गया है, जिससे छात्रों के हृदय में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का उन्मेष हो सके।

यद्यपि इस ग्रन्थ में विषयप्रतिपादन के गाम्भीर्य का अभाव है, क्योंकि पाण्डित्यप्रदर्शन की अपेक्षा छात्रोपयोगिता पर ही विशेष बल दिया गया है। पुस्तक के मुद्रण में सहृदय पाठकों को उद्वेलित करने वाली अशुद्धियां भी कहीं-कहीं हैं, तथापि विद्वज्जन 'सर्वंसहाः सूरयः' को ध्यान में रख कर इसे सहन करेंगे, इस निवेदन के साथ आशा है कि मेरा यह प्रयास छात्रों के लिये हितकर एवं सहयोगी सिद्ध होगा।

विदुषां वशंवदः

त्रिलोकीनाथ द्विवेदी

प्रवक्ता (संस्कृत विभाग)

सर्वोदय डिग्री कालेज, घोसी

आजमगढ़

विषय-सूची

भूमिका ७ से ३० पृष्ठतक

प्रथमो मयूखः

विषयः	पृष्ठम्
१. मङ्गलाचरणम्	१
२. ग्रन्थपरिचयः	३
३. पूर्वाचार्यस्तुतिः	६
४. काव्यकारणता	८
५. काव्यस्वरूपम्	११
६. मम्मटमतखण्डनम्	१७
७. शब्दलक्षणम्	१९
८. शब्दभेदाः	१९
९. रूढशब्दभेदाः	२१
१०. यौगिकशब्दभेदाः	२४
११. योगरूढशब्दभेदाः	२७
१२. पदलक्षणम्	३२
१३. वाक्यलक्षणम्	३१
१४. खण्डवाक्यम्	३२
१५. महावाक्यलक्षणम्	६४
१६. ग्रन्थकार परिचयः	३४

द्वितोयो मयूखः

१. दोषलक्षणम्	३६
पददोषाः	
२. श्रुतिकटुः	३८
३. च्युतसंस्कृति	३८
४. अप्रयुक्तम्	४०
५. असमर्थम्	४०
६. निहतार्थम्	४३
७. अनुचितार्थम्	४३
८. निरर्थकम्	४४
९. अवाचकम्	४६
१० अश्लीलम्	४९
११ सन्दिग्धम्	५१
१२. अप्रतीतम्	५१
१३. शिथिलम्	५३
१४. ग्राम्यम्	५३
१५. नेयार्थम्	५४
१६. क्लिष्टम्	५६
१७. अविमृष्टविधेयांशः	५७
१८. विरुद्धमतिकृत्	५९
२९. अन्यसङ्गतम्	५९
वाक्यदोषाः	
२०. प्रतिकूलाक्षरम्	६१
२१. उपहतविसर्गता	६३
२२. लुप्तविसर्गता	६३
२३. कुसन्धिः	६३
२४. विसन्धिः	६३
२५. हतवृत्तम्	६६
२६. न्यूनम्	६७
२७. अधिकम्	६७
२८. कथितम् (पुनरुक्तता)	६९
२९. विकृतम्	६९
३०. पतत्प्रकर्षम्	७१
३१. समाप्तपुनरात्तम्	७२

विषयः	पृष्ठम्
३२. अधान्तरपदापेक्षि	७२
३३. अभवन्मतयोगः	६४
३४. अस्थानस्थसमासम्	७५
३५. सङ्कीर्णम्	७७
३६. भग्नप्रक्रमम्	७८
अर्थदोषाः	
३७. अमतार्थान्तरम्	७९
३८. अपुष्टार्थम्	८२
३९. कष्टः	८३
४०. व्याहतः	८३
४१. पुनरुक्तः	८५
४२. दुष्क्रमत्वम्	८६
४३. ग्राम्यम्	८६
४४. सन्दिग्धत्वम्	८६
४५. अनौचित्यम्	८८
४६. विरुद्धम्	८८
४७. सामान्यपरिवृत्तिः	९१
४८. विशेषपरिवृत्तिः	९१
४९. सहचराचरु	९३
५०. विरुद्धान्योन्यसङ्गति	३३
५१. दोषभेदाः	९६
५२. दोषाङ्कुशलक्षणम्	९८
५३. दोषाङ्कुशभेदाः	९९
५४. कविपरिचयः	१०३
तृतीयो मयूखः	
लक्षणनिरूपणम्	
१. अक्षरसंहतिः	१०५
२. शोभा	१०७
३. अभिमानः	१०८
४. हेतुः	१०९
५. प्रतिषधः	११०
६. निरुक्तम्	१११
७. मिथ्याध्यवसायः	११२
८. सिद्धिः	११३
९. युक्तिः	११४
१०. कार्यम्	११५
११. कविपरिचयः	११६
चतुर्थो मयूखः	
गुणनिरूपणम्	
१. गुणस्वरूपम्	११८
२. श्लेषः	१२२
३. प्रसादः	१२५
४. समता	१२६
५. समाधिः	१२७
६. माधुर्यम्	१२८
७. ओजः	१२९
८. सौकुमार्यम्	१३१
९. उदारता	१३२
१०. गुणालङ्कारयोर्भेदः	१३६
११. गुणवर्णनोपसंहारः	१३७
१२. कविपरिचयः	१२८

चन्द्रालोककार जयदेव का जीवन परिचय

संस्कृतसाहित्य के अन्य कवियों की भाँति जयदेव का जीवन-परिचय अन्धकाराच्छन्न ही है। चन्द्रालोक के प्रत्येक मयूख के अन्त में कवि ने केवल अपने माता-पिता के नाम का परिचय दिया है—

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्राणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
अनेनासावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः॥

इससे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम महादेव तथा माता का नाम सुमित्रा था। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इनके पिता यज्ञ विद्या में परम पण्डित थे तथा इनकी माता सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहित एक पतिव्रता स्त्री थीं। ग्रन्थकार ने प्रस्तुत श्लोक में अपने लिये सुकवि शब्द का प्रयोग किया है, इससे स्पष्ट है कि जयदेव अपने समय में कवि के रूप में अतिशय ख्याति प्राप्त कर चुके थे। पीयूषवर्ष इनकी एक उपाधि थी जो इनके महाकवित्व का द्योतन करती है—

'चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।' चन्द्रा०

He acquired the titles··· Piyusavarsa for elegant lyrical verses in his drama prasannaraghava.
(A History of Sans. Lite. By V. Varadachari P. N. 165)

ये गीतगोविन्दकार जयदेव से भिन्न हैं। गीतगोविन्दकार जयदेव भोजदेव एवं रामादेवी के पुत्र थे तथा बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के समय में वीरभूमि में रहते थे—

He is different from the author of Gitagovind, who was the son of Bhojadeva and Ramadevi

and was an inhabitant of Kenduvila in Birbhumi Bengal

(A Hirtory of Sans. Lite. by S. N. Dasgupta P-560)

To the reign of Laksmanasena in Bengal belongs the last great name in Sanskrit Poetry, Jayadeva Son of Bhojadeva of Kenduvila and with Goverdhana, Dhoi, Carana and Umapati dhara, one of five jewels which adorned the Court.

(A History of Sans. Lite. by A. B. Keith)

महाकवि जयदेव कवि ही नहीं अपितु न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे । 'कोमलकान्त-ललितपदावलिबन्धात्मक काव्य की रचना करने वाला यदि तार्किक भी हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, अपि तु सोने में सुगन्ध के समान ही है'—यह उद्घोष स्वयं महाकवि जयदेव ने प्रसन्नराघव में किया है—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलायते भारती
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ।
यैः कान्ताकुचमण्डले करुहाः सानन्दमारोपिता-
स्तैः किं मत्तकरीन्द्र कुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥

वी० वरदाचारी ने भी इनके तार्किक होने की बात को स्वीकार किया है तथा यह भी माना है कि जयदेव का ही एक नाम पक्षधर मिश्र भी था जो बहुत बड़े तार्किक एवं न्यायशास्त्र के विद्वान् थे—

Jayadeva son of Mahadeva and Sumitra lived inthe first half of the 13 th Centurvy A. D. He was a great logician, rhetorician and dramatist. He acguired the titles Paksadharamisra for his profi-

ciancy in logic and Piyusavarsa for his elegant lyrical verses in his drama Prasannaraghava.

(A Histoay of Sans. lite by V. Vardachari P. 165)

इस प्रकार गीतगोविन्दकार जयदेव एवं प्रसन्नराघवनाटक तथा चन्द्रालोक के रचयिता महाकवि जयदेव दोनों भिन्न व्यक्ति हैं चन्द्रालोककार जयदेव कवि, काव्यशास्त्री, एवं तार्कि हैं यह सिद्ध है।

जन्मस्थान—महाकवि जयदेव का जन्मस्थान पूर्णतया इदमित्थं रूप में ज्ञात नहीं है। अपनी रचनाओं में इन्होंने कहीं भी अपने जन्मस्थान का उल्लेख नहीं किया है। अतः इनके जन्मस्थान के सन्दर्भ में अनेक विवाद दिखाई देते हैं। कोई इन्हें मिथिलावासी मानता है तो कोई विदर्भवासी।

(क) **मिथिला**—चन्द्रालोककार एवं प्रसन्नराघवनाटककार दोनों को अभिन्न मान लेने पर इनके वंश (गोत्र) तथा माता-पिता के समान देश का भी निर्णय आसान हो जाता है। प्रसन्नराघव में कवि ने जिस प्रकार राजा जनक तथा सीता के स्वयंवर का वर्णन किया है, इससे इनका मिथिलावासी होना प्रकट है। यद्यपि रामकथानक को लिखते समय राम का विवाह जनक की पुत्री सीता से सम्पन्न कराने के लिये कवि को मिथिला का वर्णन अवश्य ही करना पड़ेगा चाहे कवि कहीं का भी हो। अतः यह इनके जन्मस्थान में साधक नहीं बन पायेगा, ऐसा कहा जा सकता है, तथापि मिथिला के प्रति कवि का पक्षपात प्रकट है, अतः ऐतिहासिकों ने इन्हे मिथिलावासी सिद्ध किया है।

(ख) **विदर्भ**—श्री विश्वनाथशास्त्री भारद्वाज ने अपने 'संस्कृत-साहित्येतिहासः' नामक ग्रन्थ में जयदेव को विदर्भ का निवासी माना है—

'अयं विदर्भदेशस्य कुण्डिनपुरस्य निवासीति निर्देशो मिलति।'

समय—चन्द्रालोककार जयदेव का समय भी कुछ साधक-बाधक अन्तरङ्ग वहिरङ्ग प्रमाणों के द्वारा ही निश्चित करना पड़ता है।

क्योंकि इन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं भी अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। केवल तर्क या युक्ति के आधार पर इनका समय १२ वीं या १३ वीं शताब्दी माना जा सकता है—

Jayadeva son of Mahadeva an l Sumitra lived in the first half of the 13 Th century A. D.

(A His. of Sans. Lite by V. Varadachari P. 165)

चन्द्रालोक के रचनाकाल की पूर्वसीमा निधारित करने के लिये काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट तथा अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक पर्याप्त हैं। आचार्य मम्मट ने काव्यलक्षण के प्रस्ताव में 'अनलङ्कृती' शब्दार्थ को काव्य का लक्षण स्वीकार किया है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'

चन्द्रालोककार ने इसका प्रबल खण्डन किया है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥

अलङ्कारसर्वस्वकार रुय्यक ने विकल्प तथा विचित्र नामक अलङ्कारों का जो लक्षण किया है उसी को परिष्कृत कर चन्द्रालोककार ने चन्द्रालोक में भी कहा है। काव्यप्रकाशकार मम्मट भोजराज के समकालीन होने के कारण ११ वीं शताब्दी के माने जाते हैं तथा रुय्यक का समय ऐतिहासिकों ने ११५५ ई० माना है। इस प्रकार १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध जयदेव के काल की पूर्वसीमा है।

जयदेव के काल की उत्तरसीमा निर्धारित करने के लिये १—केशव मिश्र द्वारा निर्मित अलङ्कारशेखर २—प्रद्योतन भट्टाचार्य द्वारा विरचित चन्द्रालोक की शरदागमाख्या टीका ३—आचार्य विश्वनाथ का साहित्यदर्पण ४—शारङ्गधरपद्धति आदि ग्रन्थों को उपस्थित किया जा सकता है।

१६ वीं शताब्दी के केशवमिश्र के अलङ्कारशेखर एवं १४ वीं शताब्दी के विश्वनाथ के साहित्यदर्पण में जयदेवविरचित प्रसन्नराघव का एक श्लोक—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्तितुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

उद्धृत है। चन्द्रालोक की सबसे प्राचीन टीका है—शरदागमाख्या टीका। इस टीका के रचयिता हैं—प्रद्योतन भट्टाचार्य, जो वघेलवंशीय रीवां नरेश श्री वीरभद्र के आश्रित थे। वीरभद्र का समय १५७७ ई० निश्चित है। इसके अतिरिक्त १३६३ में संकलित शारङ्गधरपद्धति में प्रसन्नराघव के अनेक श्लोक उद्धृत हैं तथा १३३० ई० में स्थित शिङ्गभूपाल ने रसार्णवसुधाकर में अनेक प्रसङ्गों में प्रसन्नराघवनाटक का नामोल्लेख किया है।

अतः सिद्ध है कि १३३० ई० के पूर्व प्रसन्नराघव की रचना हो गई थी। इस प्रकार ११५५ ई० के बाद तथा १३३० ई० के पूर्व जयदेव का स्थितिकाल माना जा सकता है।

रचनायें—महाकवि जयदेव के नाम से ४ रचनायें प्राप्त होती हैं—१—प्रसन्नराघवनाटक २—चन्द्रालोक ३—पक्षधर तथा ४—गीत गोविन्द। इनमें से गीतगोविन्दकार जयदेव जो बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के समय में वीरभूमि जिले के केन्दुविला ग्राम वासी भोजदेव तथा रामादेवी के पुत्र थे, चन्द्रालोककार से भिन्न हैं। अतः गीतगोविन्द उनकी रचनाओं में नहीं माना जा सकता। प्रसन्नराघवनाटक एवं चन्द्रालोक के रचयिता कौण्डिन्य गोत्रोत्पन्न महादेव एवं सुमित्रा के पुत्र एक ही जयदेव हैं। अतः प्रसन्नराघव तथा चन्द्रालोक निर्विवाद रूप से इसी जयदेव की रचनायें हैं। वी० वरदाचारी के अनुसार पक्षधर इनकी ही रचना है तथा पक्षधरमिश्र इन्हीं का एक उपनाम है

RSVL
64482

अलङ्कारसम्प्रदाय तथा चन्द्रालोक—

भारतीय काव्यशास्त्र अनेक सम्प्रदायों में विभक्त है। जैसे

१. अलङ्कार सम्प्रदाय—भामह
२. रीति सम्प्रदाय—वामन
३. औचित्य सम्प्रदाय—क्षेमेन्द्र
४. वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कुन्तक
५. ध्वनि सम्प्रदाय—आनन्दवर्धन
६. रस सम्प्रदाय—विश्वनाथ

इन सम्प्रदायों का वर्गीकरण काव्य के आभ्यन्तरस्वरूपप्रतिपादक काव्यात्मतत्त्वों की मान्यताओं के आधार पर किया गया है। अलङ्कार-सम्प्रदाय के आचार्य अलङ्कार के रहने पर शब्दार्थ को काव्य मानते हैं। अलङ्कार न रहने पर काव्य नहीं मानते। 'अलङ्काररहिता विधवेव सरस्वती' तथा 'सालङ्कारस्य काव्यता' आदि इसके प्रबलतम उदाहरण हैं। यह सम्प्रदाय बड़ा व्यापक है, भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक यह परम्परा समय-समय पर उभर कर सामने आती रही है।

रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं—'रीतिरात्मा काव्यस्य।' अलङ्कार एवं आत्मा में पोष्य-पोषकभाव (भूष्य-भूषणभाव) सम्बन्ध होने के कारण अलङ्कारसम्प्रदाय तथा अवयव संघटना से आत्मा का पृथक् होना स्पष्ट होने के कारण पदसङ्घटनात्मक रीति को आत्मा के रूप में प्रतिपादित करने वाला रीतिसम्प्रदाय सर्वजनग्राह्य नहीं हो पाया। फलतः—'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्' के रूप में क्षेमेन्द्र ने औचित्यसम्प्रदाय एवं 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' के रूप में आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिसम्प्रदाय को जन्म दिया। स्वन्त्र स्थिति न होने के कारण, अलङ्कारादिनिष्ठ होकर रहने के कारण औचित्यसम्प्रदाय तथा अलङ्काररूपता के कारण वक्रोक्ति सम्प्रदाय भी सहृदय समाज में उतनी प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सका जितनी प्रतिष्ठा ध्वनिसम्प्रदाय एवं रससप्रदाय को मिली।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहते हुये आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित करते हुये ध्वनिसम्प्रदाय की स्थापना किया। आनन्दवर्धन एक तत्त्वचिन्तक थे, उनके विचारों में मौलिकता थी, उनका सिद्धान्त पूर्णतया प्रतिष्ठा को भी प्राप्त किया – इसमें कोई सन्देह नहीं। तथापि वस्तु, अलङ्कार एवं रसरूप त्रिविध ध्वनि की काव्यात्मकता साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ को सह्य नहीं हुई और वे—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के रूप में रस को काव्य की आत्मा मानते हुये रससम्प्रदाय की स्थापना में सफल हो गये। आचार्य विश्वनाथ द्वारा स्थापित सिद्धान्त अद्यावधि खण्डित नहीं हो पाया। अतः सम्प्रति यही सिद्धान्तरूप में प्रतिष्ठित एवं व्यहृत है।

कवि आलोचक चन्द्रालोककार जयदेव ने काव्यत्व के लिये आवश्यक अनेक तत्वों में अलङ्कार एवं रस को स्वीकार किया है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥

तथापि मम्मट के खण्डन में इनके द्वारा कही गई एक ही कारिका—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती॥

इनको अलङ्कारवादी सिद्ध करने के लिए प्रर्याप्त है। इस प्रकार चन्द्रालोक अलङ्कारसम्प्रदाय के ग्रन्थगुच्छक का अन्यतम पुष्प सिद्ध होता है।

काव्य प्रयोजन—

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' बिना किसी प्रयोजन के कोई मूर्ख व्यक्ति भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, तो भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखने वाले क्रान्तदर्शी कवियों की बात ही क्या है? भला कोई कवि निष्प्रयोजन काव्यकर्म में क्यों प्रयुक्त होगा। अतः काव्य का भी कोई गुरुतर प्रयोजन होना चाहिये। काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार से किया है। आचार्य विश्वनाथ चतुर्वर्ग-(धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष)—फल प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन मानते हैं—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव ..... ॥

आचार्य भामह विश्वनाथ से दो कदम आगे दिखलाई देते हैं तथा धर्मार्थ-काममोक्ष के समान कलाओं में भी निपुणता तथा कीर्ति एवं प्रीति को काव्य का प्रयोजन मानते हैं—

धर्मार्थिकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

विष्णुपुराण में काव्य को त्रिवर्ग (धर्मार्थिकाम) का साधन माना गया है—

'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम् ।'

महामुनि भरत ने नाट्य का प्रयोजन बतलाते हुये केवल विश्रान्ति को काव्य के प्रयोजन के रूप में प्रतिपादित किया है—

'विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ।'

कहीं कहीं काव्य स्वान्तःसुखाय भी होता है—

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा ।
भाषानिबद्धमतिमञ्जुलमातनोति ।

काव्यप्रयोजन के परिप्रेक्ष्य में महाकवि जयदेव द्वारा विरचित चन्द्रालोक वाग्देवता के विशेषण के रूप में—'सुमनसां मानसे उल्लासिनी' शब्द का प्रयोग उपस्थित कर—

उच्चैरस्यति मन्दतामरसतां जाग्रत्कलङ्कैरव—
ध्वंसं हस्तयते च या सुमनसामुल्लासिनी मानसे ॥

सहृदयहृदयोल्लास को तथा प्रत्येक मयूख की पुष्पिका में—

चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ।

स्पष्टतः सहृदयों के चिरकालिक (स्थायी) सुख को काव्य का प्रयोजन सिद्ध किया है।

काव्यकारणता—लोकोत्तराह्लादजनक, मोक्षसोपानपरम्परायमान, वेद-शास्त्रविलक्षण, शब्दार्थशरीर वाले काव्य की कारणता का प्रतिपादन करते हुये कहा है—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव॥

मिट्टी एवं जल से सम्बद्ध बीजमाला जैसे लता की उत्पत्ति के प्रति कारण होती है, उसी प्रकार श्रुत (शास्त्रज्ञान, लोक, शास्त्र एवं काव्य-आदि के अवेक्षण से उत्पन्न होने वाली निपुणता) तथा अभ्यास (काव्य रचना एवं समालोचना करने में बार-बार प्रवृत्ति) से युक्त प्रतिभा (नये-नये विचारों से सुशोभित होनेवाली विलक्षण बुद्धि, प्रज्ञा) कविता अथवा कविकर्मभूत काव्य के प्रति कारण होती है।

भाव यह है कि—जिस प्रकार लता की उत्पत्ति के प्रति मिट्टी एवं जल से संयुक्त बीजमाला कारण होती है, क्योंकि केवल मिट्टी से अथवा जल से, अधिक क्या कहें, केवल बीजमाला से लता की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अपितु मिट्टी एवं जल का संयोग प्राप्त होने पर ही बीज से लता उत्पन्न हो सकती है, उसी प्रकार कविता के प्रति श्रुत (शास्त्रज्ञान) तथा अभ्यास से युक्त प्रतिभा ही कारण होती है। केवल प्रतिभा, श्रुत तथा केवल अभ्यास से कविता की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् काव्य के प्रति प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास की वैसी ही सम्मिलित कारणता होती है, जैसे घट के प्रति दण्ड, चक्र एवं चीवर की।

रहस्य यह है कि, कारणता दो प्रकार की होती है—१. 'दण्डचक्रचीवरादि' न्याय से तथा २. 'तृणारणिमणि' न्याय से। इनमें प्रथमा कारणता को समस्त (सम्मिलित)—कारणता तथा द्वितीया को व्यस्त (पृथक्-पृथक्)—कारणता कहते हैं। घटनिर्माण के प्रति दण्ड, चक्र एवं चीवर तीनों सम्मिलित रूप से कारण हैं, क्योंकि इन तीनों के रहने पर ही घटनिर्माण हो सकता है। इनमें से किसी एक के भी अभाव में घट-निर्माण नहीं हो सकता। किन्तु अग्निदाह के प्रति तृण, अरणि एवं मणि तीनों पृथक्-पृथक् कारण हैं, अग्नि के जलने के लिये

इन तीनों का एक साथ होना कोई आवश्यक नहीं। तृण में माचिस घिस कर लगा देने पर अग्नि जल उठती है, अरणिमन्थन से अग्नि की दाहकता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सूर्यकान्त मणि में सूर्य के संयोगमात्र से दाहकता आ जाती है। इस प्रकार तृण को अरणि एवं मणि की, अरणि को तृण एवं मणि की तथा मणि को तृण एवं अरणि की आवश्यकता नहीं होती। अतः अग्निदाह के प्रति इन तीनों की पृथक्-पृथक् व्यस्त कारणता मानी गई है।

इस प्रकार लता के प्रति मृत् (मिट्टी), जल एवं बीजमाला की तथा काव्य के प्रति प्रतिभा, श्रुत (शास्त्रज्ञान) एवं अभ्यास की 'दण्डचक्रचीवरादि'-न्याय से सम्मिलित कारणता सिद्ध है।

शङ्का— कविता के प्रति प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास की सम्मिलित कारणता कहने पर 'प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास कविता के प्रति कारण हैं' इस प्रकार सामान्य रूप से इनकी काव्य-कारणता का प्रतिपादन आचार्य जयदेव ने क्यों नहीं किया ? जैसा कि काव्यप्रकाश में कहा गया है—'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥' अर्थात् शक्ति, लोक, शास्त्र तथा काव्यादि के अवेक्षण से प्राप्त निपुणता एवं काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास—ये तीनों काव्य के निर्माण में कारण हैं। 'श्रुत एवं अभ्यास से संयुक्त प्रतिभा काव्य के प्रति कारण है' इस प्रकार प्रकारान्तर से क्यों कहा है ?

समाधान—काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है तथा प्रतिभा के प्रति श्रुत एवं अभ्यास कारण हैं। इस प्रकार काव्य के प्रति प्रतिभा की साक्षात् कारणता है एवं प्रतिभा के प्रति श्रुत तथा अभ्यास साक्षात् कारण हैं किन्तु काव्य के प्रति श्रुत तथा अभ्यास परम्परा सम्बन्ध से कारण हैं। इस रहस्य का प्रतिपादन करने के लिये ही इन तीनों की सामान्यरूप से कारणता की बात जयदेव ने नहीं किया है अपितु 'श्रुताभ्याससहिता प्रतिभा काव्य के प्रति कारण है' इस रूप में प्रकारान्तर से कहा है। जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में कहा है कि—'कविगता केवला प्रतिभा काव्य के प्रति कारण है। प्रतिभा के

प्रति कहीं देवता या महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट तथा कहीं-कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति एवं काव्य बनाने का अभ्यास कारण हैं।

काव्यस्वरूप—

किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन दो प्रकार से किया जाता है—बाह्यरूप में तथा आभ्यन्तर रूप में। बाह्यस्वरूप का प्रतिपादन शरीर अथवा आकार-प्रकार के द्वारा तथा आभ्यन्तर-स्वरूप का प्रतिपादन गुण एवं आत्म-तत्त्व के विश्लेषण के द्वारा किया जाता है। काव्य के बाह्यस्वरूप का प्रतिपादन शब्दार्थ के रूप में तथा आभ्यन्तर स्वरूप का प्रतिपादन रीति, औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि एवं रस आदि सम्प्रदायों के रूप में किया गया है।

काव्य के बाह्यस्वरूप का प्रतिपादन करते हुये चन्द्रालोककार आचार्य श्री जयदेव ने कहा है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥

निर्दोष, लक्षणयुक्त, रीतियुक्त, गुणभूषित, अलङ्कारयुक्त, रससमन्वित तथा अनेक वृत्तियों से युक्त 'वाक्' (शब्दार्थ) को काव्य कहते हैं। यहाँ बतला देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि—

काव्यस्वरूपप्रतिपादन के सन्दर्भ में काव्यशास्त्रियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—१. 'शब्दः काव्यम्' शब्द को काव्य मानने वाले तथा २. 'शब्दार्थौ काव्यम्' शब्द तथा अर्थ—दोनों को काव्य मानने वाले। शब्द को काव्य मानने वाले आचार्यों में दण्डी, कान्तिचन्द्र शौद्धोदनि, केशवमिश्र, भोजराज, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रमुख हैं—

१. 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः'।
(काव्यादर्श १|१०, काव्यदीपिका १|३)

२. 'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत'।
(अलङ्कारशेखर १/२, अलङ्कारसूत्र १|२)

३. 'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्'।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥ (स० क० १/२)

४. 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' ।

(रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पृ० १०)

शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य मानने वाले आचार्यों में भामह, भट्टभट, आनन्दवर्धन, वाग्भट, विद्यानाथ, अच्युतराय, हेमचन्द्र तथा मम्मट का नाम उद्धृत किया जा सकता है—

१. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' । (काव्याल० तथा का० सा० सं—१/१६)

२. 'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः' ॥ (ध्वन्या० १/८)

३. 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी' ॥ (वक्रो० जी० १/७)

४. 'साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेत्तं काव्यं कुर्वीत कीर्तये' ॥ (वाग्भटालङ्कार १/२)

५. 'गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः' ॥ (प्रतापरुद्रीयम् का० १)

६. 'तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्वे सति स्फुटम् ।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम् ॥' (साहित्यसार ध० र० १८)

७. 'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' ॥

(काव्यानु० १, पृ० १६)

८. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' ॥ (काव्यप्रकाश १/४)

इन दोनों मतों के संस्थापक के रूप में अग्निपुराणकार महर्षि व्यास तथा नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि को माना जा सकता है । इनके काव्य लक्षण क्रमशः—

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः ।
काव्यं स्फुटदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम् ॥—३३७।६-७

तथा—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययुक्तम् ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकानाम् ॥—१७।१२१

है । इन दोनों वर्गों में 'वाक्' को काव्य मानने वाले आचार्य जयदेव प्रथम वर्ग के प्रति अपना पक्षपात प्रकट करते जान पड़ते हैं, किन्तु उन्होंने महर्षि व्यास एवं विश्वनाथ के समान स्पष्टतः 'वाक्य', दण्डी तथा कान्तिचन्द्र के समान 'पदावलि' एवं पण्डितराज जगन्नाथ के समान 'शब्द' का प्रयोग न करके भ्रामक 'वाक्' पद का प्रयोग किया, जिससे आलोचक गण 'उच्यतेऽनेन' तथा उच्यतेऽसौ' इन व्युत्पत्तियों के आधार पर इनको द्वितीय 'शब्दार्थौ काव्यम्' को मानने वाले वर्ग में सिद्ध करते हैं । इस प्रकार चन्द्रालोककार जयदेव शब्दार्थौ वादी हैं—ऐसा माना जाता है ।

मम्मटमत खण्डन—काव्यस्वरूपप्रतिपादन के अवसर में काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मट ने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृति पुनः क्वापि' (दोषरहित' गुणयुक्त एवम् अलङ्कारहित शब्दार्थ को काव्य कहते, किन्तु कहीं-कहीं स्फुट अलङ्कार के न रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती) इस प्रकार काव्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये (काव्यरूप में अङ्गीकृत) शब्दार्थ के लिये तीन विशेषणों की योजना करते हुये 'अनलङ्कृती' को विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है । तथा स्वयं वृत्ति में उसकी व्याख्या भी किया है कि—सब जगह अलङ्कारयुक्त शब्दार्थ को काव्य कहते हैं, किन्तु कहीं स्फुट अलङ्कार के न रहने पर भी काव्यत्व की कोई हानि नही होती, किन्तु यह विशेषण सब जगह सर्वथा अलङ्कारयुक्त शब्दार्थ को काव्य मानने वाले चन्द्रालोककार श्रीजयदेव को सह्य नहीं है । अतएव इसका खण्डन करते हुये उन्होंने वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के लिये 'अनल' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है—

8 अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥

'अनल' के विषय में प्रसिद्धि है कि वह उष्ण होती है। उष्णत्व के अभाव में या तो पूर्वावस्था में वह काष्ठ हो सकती है या तो उत्तरावस्था में राख हो सकती है, अनल नहीं। इस प्रकार अनल के सम्बन्ध में उष्णता व्याप्ति के रूप में गृहीत है, उष्णता के अभाव में अनलत्व असंभव है—यह बिल्कुल स्पष्ट है। इसी प्रकार शब्दार्थ की काव्यता में अलङ्कृतित्व व्याप्तिरूप है—ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार अनलङ्कृतित्व (अलङ्काराभाव) की स्थिति में काव्यत्व बिल्कुल असंभव है।

काव्यरूप में अभिमत 'वाक्'—

आचार्य जयदेव ने 'वाक्काव्यनामभाक्' कह कर 'वाक्' को काव्य माना है। वाक् का अर्थ समझने के लिये इसकी व्युत्पत्ति पर दृष्टिपात करना पड़ेगा।

'उच्यतेऽनेनेति वाक्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द वाक् है, क्योंकि शब्द के द्वारा ही अर्थ का कथन होता है, जैसा कि महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने कहा है 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' (ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो बिना शब्दानुगम के हो सके)। 'उच्यतेऽसाविति वाक्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ 'वाक्' पद से अभिहित है। इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर वाक् पद से शब्द तथा अर्थ दोनों गृहीत होते हैं। इस प्रकार 'शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं'—यह काव्य का लक्षण फलित होता है।

शब्दस्वरूप—

शब्द के स्वरूप में आचार्य जयदेव ने पहले शास्त्रीय-शब्द की परिभाषा किया है—'विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते'। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रथमतः शब्द को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—अशास्त्रीय शब्द तथा शास्त्रीयशब्द। अशास्त्रीय शब्द का कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता, क्योंकि जितने व्यक्ति उसका प्रयोग करेंगे वह उतने प्रकार का हो

सकता है। शास्त्रीय शब्द का स्वरूप निश्चित है--व्याकरण शास्त्र के नियमानुकूल जिन शब्दों की सिद्धि होती है अर्थात् जो शब्द व्याकरणशास्त्र के नियमो से सुसंस्कृत होते हैं उन्हें शास्त्रीय शब्द कहा जाता है। इसीलिये व्याकरणविरुद्ध शब्द च्युतसंस्कृतिदोषग्रस्त माने जाते हैं। व्याकरणशास्त्र प्रकृति-प्रत्यय के संयोग के नियमों का प्रतिपादन कर शब्द को साधुता प्रदान करता हुआ प्रयोग के योग्य बनता है। अतः--

विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते।'

(विभक्तियुक्त होने के कारण, प्रयोग करने के योग्य शब्द शास्त्रीय-शब्द कहलाता है।) 'अपदं न प्रयुञ्जीत' तथा 'विभक्त्यन्तं पदम्' इन सिद्धान्तों के के अनुसार जब तक वर्णसमूह में विभक्तियाँ नहीं लग जातीं तब तक वह प्रातिपादिक कहलाता है, पद नहीं तथा तब तक वह प्रयोग करने के योग्य भी नहीं होता। इस प्रकार वर्णसमूह की पदता तथा प्रयोग-योग्यता विभक्तियों के योग पर निर्भर करती है।

वर्णसमूह को पदता प्रदान वाली विभक्तियाँ दो प्रकार की हैं--१. सुप् विभक्तियाँ तथा २. तिङ्विभक्तियाँ। अतएव 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस पदसंज्ञाविधायक सूत्र के साथ पद की परिभाषा पाणिनि के मत में भी सिद्ध है। सुप् विभक्तियाँ २१ हैं--सु, औ, जस् आदि। तिङ् विभक्तियाँ दो प्रकार की हैं--परस्मैपदी तथा आत्मने पदी। परस्मैपदी विभक्तियाँ तिप्, तस्, झि आदि ९ हैं। इसी प्रकार त, आताम्, झ आदि ९ आत्मनेपदी विभक्तियाँ हैं। विभक्तियों के संयोग के बिना शब्द अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता। जैसे--'रामः गच्छति' इस वाक्य में सुविभक्ति से युक्त होने के कारण 'रामः' पद है तथा 'गम्' धातु के तिप् प्रत्यय से युक्त होने के कारण 'गच्छति' भी पद है। विभक्त्यन्त होने के कारण दोनों पदों से जो अर्थ निकलता है वह--'रामकर्तृक—वर्तमानकालिक-गमनानुकूलो (उत्तरदेशसंयोगानुकूलो) व्यापारः' अथवा वर्तमानकालिक गमनानुकूल-(उत्तरदेशसंयोगानुकूल)—व्यापारवान् रामः' इस वाक्यार्थ को सम्पन्न करता है।

इस प्रकार शब्द के दो अवयव होते हैं—१. शब्द एवं धातुरूप प्रकृति तथा २. सुबादि एवं तिङादि प्रत्यय। संक्षेप में कहा जा सकता है कि शास्त्रीय शब्द की तीन विशेषताएँ होती हैं--१. विभक्तियुक्तता २. प्रयोगयोग्यता एवं ३. निश्चितार्थ प्रतिपादकता। शास्त्रीय शब्द की इन तीन विशेषताओं के आधार पर अब हम अशास्त्रीय शब्द के स्वरूप के विषय में भी कह सकते हैं कि वह शब्द अशास्त्रीय शब्द है जिसमें विभक्तियुक्तता प्रयोगयोग्यता एवं निश्चितार्थ प्रतिपादकता न हो। जैसे—कचटतप। अथवा 'राम' यह प्रातिपदिक।

शब्द के भेद—शास्त्रीय शब्द एवं पद में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। ये दोनो एक दूसरे के पर्यायरूप हैं। क्योंकि दोनों का स्वरूप एक है—

१. विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते।

२. विभक्त्यन्तं पदं.....।

यह शब्द या पद ही रसात्मक वाक्यरूप काव्य की प्रथम इकाई है। इसी शब्द (पद का, योग्यता, आकाङ्क्षा एवं आसत्ति से युक्त समूह वाक्य, खण्डवाक्य तथा वाक्यकदम्बक या महावाक्य बनता है जिसे काव्य या महावाक्य कहते हैं। शब्दभेद के इस प्रकरण में केवल शास्त्रीय शब्द की बात की जा रही है—

विभक्त्यन्तं पदं वाक्यं तद्व्यूहोऽर्थंसमाश्रितः॥
युक्तार्थानां तां च विना खण्डवाक्यं स इष्यते।
वाक्यान्येकार्थंविश्रान्ताण्याहुर्वाक्य कदम्बकम्॥

शब्द के तीन भेद होते हैं—१. रूढ २. यौगिक तथा ३. रूढयौगिक।

१. रूढशब्द—प्रकृति तथा प्रत्यय के अर्थ का विचार किये बिना केवल समुदाय-शक्ति से अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को रूढ शब्द कहते हैं। रूढशब्द के तीन भेद होते हैं—अव्यक्तयोग, निर्योग तथा योगाभास। वृक्षादि, भूवादि तथा मण्डपादि इनके क्रमशः उदाहरण हैं। अव्यक्तयोग रूढशब्द में योग (प्रकृति-प्रत्यय-सम्बन्ध) व्यक्त नहीं होता। जैसे 'वृक्ष' शब्द में योग होते हुए भी प्रतीत नहीं होता। निर्योग शब्द में योग होता ही नहीं जैसे—भू तथा वा शब्द।

मण्डप शब्द से 'मण्डं पिबतीति मण्डपः' इस व्युत्पत्ति के रूप में योग का आभास तो होता है किन्तु मण्डप शब्द व्युत्पत्ति लभ्य मण्डपायी रूप अर्थ को छोड़कर समुदायशक्त्या 'भवन' रूप अर्थ की प्रतीति कराता है।

२. यौगिक शब्द—'योगादागतो यौगिकः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर योग (प्रकृति तथा प्रत्यय के सम्मिश्रण) से अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को यौगिक शब्द कहते हैं। यौगिक शब्द के भी तीन भेद होते हैं—१.शुद्धयौगिक २. तन्मूल (योगमूल) यौगिक ३. सम्भिन्न यौगिक (रूढिमिश्रित यौगिक)। शुद्धयौगिक शब्द का उदाहरण जैसे—'भ्रान्तिः' तन्मूलयौगिक जैसे—स्फुरत्कान्तिः तथा सम्भिन्नयौगिक शब्द जैसे—कौन्तेय आदि।

३. रूढयौगिक शब्द—जो शब्द रूढ भी होता है और यौगिक भी, प्रकृति प्रत्यय के अर्थ के बिना तथा प्रकृति प्रत्ययार्थ विचार पूर्वक--दोनों प्रकार से अर्थ का प्रतिपादन करता है उसे योगरूढ शब्द कहते हैं। इसके भी तीन भेद होते हैं--१. सामान्य अर्थ का विशेष अर्थ में परिवर्तत। २. विशेष अर्थ का सामान्य अर्थ में परिवर्तन तथा ३. सामान्यविशेषरूप उभय अर्थों में परिवर्तन। इनमें प्रथम प्रकार के उदाहरण हैं--नीरधिः, पङ्कजम्, सौधम्, सागरः, भूरुहः तथा शशी आदि। उभय परिवर्तनरूप योगरूढशब्द के उदाहरण हैं क्षीरनीरधिः तथा आकाशपङ्कजम् इत्यादि।

दोषनिरूपण—'दुष्यति विकृतं भवत्यनेन' इस व्युत्पत्ति में 'दुष्' धातु से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न दोष (शब्द) काव्य में विकार का प्रतिपादक है। जिस प्रकार लोक में अन्धत्व काणत्व आदि दोष शरीर में अङ्गविकार के प्रतिपादक हैं, उसी प्रकार काव्य में भी जिस किसी भी प्रकार से शब्द, अर्थ तथा रस में जो विकार उपस्थापित करने वाले हैं, वे दोष कहलाते हैं। इसीलिये चन्द्रालोककार ने दोष के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये कहा है—

स्याच्चेतो विशता येन सक्षता समणीयता।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम्॥

अर्थात् हृदय में प्रवेश करते ही जिसके द्वारा (काव्यगत) रमणीयता विनष्ट हो जाती है, शब्द तथा अर्थ में उन्मेष को प्राप्त करने वाले उस (तत्त्व) को (काव्यशास्त्री) दोष कहते हैं। दोष के इस लक्षण में तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१. हृदय में प्रवेश करते ही—

२. रमणीयता को नष्ट करना—

३. शब्द, अर्थ, तथा रस में उन्मेष को प्राप्त करना—ये दोषगत तत्त्व हैं। हृदय से यहाँ तात्पर्य है सहृदयों का हृदय। सहृदय से—काव्यभावनापरिपक्वहृदय अभीष्ट है। अर्थात् काव्य की भावना (पुनः-नपुः अर्थानुसंधान) करने से जिनका हृदय (इदं काव्यं सत्) 'यह काव्य अच्छा है' (इदं काव्यमसद्) 'यह काव्य अच्छा नहीं है'—यह विचार करने में दृढ़ हो गया है उसे सहृदय कहते हैं। उसके हृदय में प्रवेश करते ही (तत्क्षण ही) जो काव्यगत रमणीयता (चमत्कार) सहृदयहृदयाह्लादकता को नष्ट कर दे, प्रपाणक रस में किर-किरी के समान उद्वेजकता का आधान कर दे, उसे दोष कहते हैं। इस दोष का आश्रय कहीं शब्द, कहीं अर्थ, कहीं रस होता है।

तात्पर्य यह है कि शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर (अवयव) भूत हैं तथा रस उस शब्दार्थ (शरीर) में रहने वाला आत्मस्थानी है। जिस प्रकार हाथ, पैर, नाक, कान आदि अवयवों से युक्त शरीर के अन्दर मुख्य तत्त्व के रूप में आत्मा की कल्पना दार्शनिकों ने किया है, उसी प्रकार शब्दार्थ शरीरककाव्य में रस को मुख्य तत्त्व के रूप में माना गया है। लोक में अन्धत्व, काणत्व आदि दोष आँख,कान आदि तत्तत् अङ्गों में विकारता का प्रतिपादन करते हुये 'मैं अन्धा हूँ, काना हूँ, इत्यादि भावनाओं को भी जागृत करते हुये आत्मा में न्यूनता का, हीनता का प्रतिपादन करते हैं, उसी प्रकार काव्यदोष कहींशब्दनिष्ट होकर शब्दगत चमत्कार को नष्ट करते हुये तथा कहीं अर्थनिष्ठ होकर अर्थत

चमत्कार को नष्ट करते हुये काव्य के आत्मा रस का विनाश करते हैं। अतः शब्द, अर्थ तथा रस—ये तीनों दोष के आश्रय होते हैं।

शब्द, अर्थ अथवा रस के बिनाश का तात्पर्य कहीं तो अप्रतीति है तथा कहीं विलम्ब से प्रतीति मानी जाती है। इस प्रकार ये दोष कहीं तो अर्थ की प्रतीति होने नहीं देते तथा कहीं इसकी प्रतीति में विलम्ब उपस्थित करते हैं। यही अप्रतीति हो या विलम्बेन प्रतीति यहाँ विनाशक (सक्षता) पद से ग्रन्थकार को अभीष्ट है।

दोषभेद—शब्द तथा अर्थ से उत्पन्न होने वाले दोषों की कल्पना आवश्यकता अथवा औचित्य के अनुसार पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश तथा वाक्यकदम्ब (महावाक्य) में करनी चाहिये। इस तरह दोष पाँच प्रकार के होते हैं—१. पददोष, २. पदांशदोष, ३. वाक्यदोष, ४. वाक्यांशदोष तथा ५. वाक्यकदम्बक (महावाक्य) दोष। ये सभी पाँचों प्रकार के दोष शब्ददोष कहे जाते हैं, क्योंकि पद, पदांश, वाक्यांश, वाक्य तथा कहावाक्य—ये सब शब्द के ही भेद हैं। इसी प्रकार अर्थदोषों में भी कुछ पदार्थदोष, कुछ वाक्यार्थदोष तथा कुछ रसदोष होते हैं। इन दोषों का परस्पर साङ्कर्य भी होता है, क्योंकि कुछ दोष पद, पदांश वाक्य, तीनों में रहते हैं। कुछ दोष शब्दार्थोभयनिष्ठ भी होते हैं। इनकी स्थिति की कल्पना यथानुसार करनी चाहिये। इन दोषों का वर्गीकरण अधोलिखित रूपों में किया जा सकता है। जैसे—

१. पददोष—१. श्रुतिकटुत्व. २. च्युतसंस्कृतित्व, ३. अप्रयुक्तत्व, ४. असमर्थत्व, ५. निहयतार्थत्व, ६. अनुचितार्थत्व, ७. निरर्थकत्व, ८. अवाचकत्व, ९. व्रीडाश्लीलत्व, १०. जुगुप्साश्लीलत्व, ११. अमङ्गलाश्लीलत्व, १२. सन्दिग्धत्व, १३. अप्रतीतत्व, १४. शिथिलत्व, १५. ग्राम्यत्व, १६. नेयार्थत्व, १७. क्लिष्टार्थत्व, १८. अविमृष्टविधेयांशत्व, १९. विरुद्धमतिकारिता, २०. अन्यसङ्गतत्व-इत्यादि।

२. पदांशदोष—१. श्रुतिकटुत्व, २. प्रतिकूलाक्षरत्व, ३. निहतार्थत्व, ४. अवाचकत्व, ५. अश्लीलत्व इत्यादि।

३. वाक्यदोष—१. प्रतिकूलाक्षरत्व, २. उपहतविसर्गता, ३. लुप्तविसर्गता, ४. कुसन्धित्व, ५. विसन्धित्व, ६. हतवृत्तता, ७. कथितपदता, ८. विकृतत्व, ९.

पतत्प्रकर्षता, १०, समाप्तपुनरात्तता, ११. अर्थान्तरपदापेक्षित्व, ११. अभवन्मतयोग, १३. अस्थानस्थसमासत्व, १४. सङ्कीर्णत्व, १५. भग्नप्रक्रमता इत्यादि ।

४. वाक्यांशदोष—१. कुसन्धित्व, २. विसन्धित्व, ३. अर्थान्तरपदापेक्षित्व, ४. अस्थानस्थसमासत्व इत्यादि ।

५. वाक्यकदम्बक (महावाक्य) दोष—रसनिष्ठ अनौचित्य आदि महावाक्य के दोष हैं । क्योंकि रस प्रबन्धगत ही होता है ।

अर्थदोष—१. अमतार्थान्तिरत्व, २. अपुष्टार्थत्व, ३. कष्टत्व, ४. व्याहतत्व, ५. दुष्क्रमत्व, ६. ग्राम्यत्व, ७. सन्दिग्धत्व, ८. अनौचित्य, ९. विरुद्धत्व, १०, परिवृत्तित्व, ११. सहचराचारुत्व, १२. विरुद्धान्योन्यसङ्गतित्व इत्यादि ।

पदवाक्योभयगतदोष—१. श्रुतिकटुत्व, २. अश्लीलत्व, ३. अनुचितार्थत्व ४. अप्रयुक्तत्व, ५. ग्राम्यत्व, ६. अप्रतीतत्व, ७. सन्दिग्धत्व, ८. नेयार्थत्व, ९. निहतार्थत्व १० अवाचकत्व, ११. क्लिष्टार्थकत्व, १२. विरुद्धमतिकारिता, १३. अविमृष्टविधेयांशत्व इत्यादि ।

इसी प्रकार अन्य भी सङ्कीर्ण दोषों को समझना चाहिये ॥३९॥

लक्षण स्वरूप—काव्य के स्वरूप में प्रतिपादित 'वाक्' के विशेषण के रूप में कहे गये 'लक्षणवती' इस अंश में उक्त लक्षण का क्या स्वरूप है ? लक्षण किसे कहते हैं ? इस विशेष जिज्ञासा में कहा जा सकता है कि लक्षण का तात्पर्य यहाँ अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषशून्य, स्वरूप प्रतिपादक लक्षण से नहीं है । यह लक्षण काव्य के उपकारक (उत्कर्षक) अनेक तत्त्वों में से अन्यतम है । अतः इस लक्षण का लक्षण 'काव्योत्कर्षकान्यतरत्वम्' किया जा सकता है । ग्रन्थकार ने काव्योत्कर्षक सभी गुणालङ्कारादि का सामान्य लक्षण किया है, किन्तु इस लक्षण का सामान्यस्वरूप नहीं बतलाया है । लक्षण की बात केवल यहीं उठाई गई है । अन्य अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में लक्षण की चर्चा नहीं है । अतः काव्योत्कर्षक तत्त्व के रूप में गृहीत इस तत्त्व के सामान्यस्वरूप का निर्धारण ग्रन्थकार ने नहीं किया है । विशेष भेदों के प्रतिपादनपूर्वक ही इसका स्वरूप स्पष्ट किये हैं । यह लक्षण कहीं दोषाभाव स्वरूप है, कहीं गुणावह है । इसका कोई निश्चित रूप है ही नहीं । जैसे—किसी

स्त्रीविशेष या पुरुषविशेष में विशेष प्रकार के चिन्ह (लक्षण) देखे जाते हैं, उन्हें लक्षण नाम से ही अभिहित किया जाता है। जैसे—हाथ का लम्बा होना, छोटा होना। सिर का बड़ा होना। ललाट का चौड़ा, चमकदार होना। अंग-विशेष में तिल, मांसा आदि। ये लक्षण पशु-पक्षियों में भी होते हैं, जिनके आधार पर उनके उत्कृष्टत्वापकृष्टत्व आदि का ज्ञान होता है। लोक में प्रचलित यही लक्षण, जिसका कोई निश्चित रूप नहीं है, ग्रन्थकार के द्वारा यहाँ लक्षण नाम से ही काव्योत्कर्षक तत्त्व के रूप में प्रतिपादित है।

गुणस्वरूप—गुण के स्वरूप-प्रतिपादन में अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार का विचार व्यक्त किया है। अध्यात्मप्राणा भारतीय-संस्कृति का प्रभाव न केवल भारतीय दर्शनों पर ही पड़ा, अपितु काव्यशास्त्र ग्रन्थ भी इससे अछूते नहीं हो। अतएव जैसे—लोक में शरीर, अवयवसंस्थान, आत्मा के उत्कर्षक शौर्यादि, अपकर्षक दोषादि की कल्पना की गई है, उसी प्रकार काव्य में शरीर, आत्मा, गुण, अलङ्कार, रीति, दोष, आदि की कल्पना देखी जाती है। जैसा कि कहा है—

'शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटक-कुण्डलादिवत्, रीतयो अवयवसंस्थानविशेषवत्, दोषाः काणत्वादिवत्।'

(शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर हैं, रसादि आत्मा हैं, गुण-शौर्यादि के समान, अलङ्कार कटककुण्डल के समान, रीतियाँ अवयवसंस्थान के समान तथा दोष काणत्व आदि के समान हैं।) इनमें से गुण काव्य के उत्कर्षक के रूप में हैं। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है—

'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः'।

साहित्यदर्पणकार के द्वारा सामान्यतया उक्त उत्कर्ष-हेतुओं में वामन ने द्वैविध्य का प्रतिपादन करते हुये काव्यशोभा के कर्त्ता धर्मों को गुण तथा उनमें अतिशयसम्पादक धर्मों को अलङ्कार माना है—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ॥'—३. १. १ ॥
'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥'—३. १. २. इति ।

काव्यप्रकाशकार के मत में शरीर में अङ्गी आत्मा के धर्म जैसे शौर्यादि हैं, उसी प्रकार काव्य के आत्मा रस के जो नियत धर्म हैं, उन्हें गुण कहते हैं—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयों गुणाः ॥'

इस प्रकार—रसोत्कर्षहेतुत्वे सति अचलस्थितित्वं गुणत्वम्' (उत्कर्ष करते हुए रस के नियत धर्म को गुण कहते हैं)। यह गुण का परिनिष्ठित लक्षण सम्पन्न है ।

नवीन आचार्यों ने इन गुणों को अर्थ का धर्म मानते हुये माधुर्य, ओजः तथा प्रसाद—इन तीन रूपों में विभक्त किया है, किन्तु प्राचीन आचार्य शब्द तथा अर्थ—इन दोनों का धर्म—मानते हुये शब्दार्थभेद से शब्दगुण तथा अर्थगुण, ये भेद प्रतिपादित किया है, जैसा कि वामन ने कहा है—

'ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः ।'—३. १. ४ ।

'त एवार्थगुणाः' ॥—३. २. १ ॥

[ओज, प्रसाद श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति— ये दश बन्धगुण (शब्दगुण) हैं । वे ही (इसी नाम वाले) अर्थगुण भी होते हैं ।]

भरत मुनि ने भी दश गुणों को ही माना है । दण्डी तथा वाग्भट भी दश गुण ही मानते हैं, किन्तु मम्मट के समकालीन भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में गुणों की संख्या २४ (चौबीस) माना है । प्रस्तुत ग्रन्थ में महाकवि जयदेव ने केवल आठ गुणों को ही माना है । वामन आदि के द्वारा माने गये कान्ति तथा अर्थव्यक्ति—इन दो गुणों को जयदेव ने नहीं माना है, अपितु शृङ्गार रस में कान्ति एवं प्रसाद में अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव माना है ।

काव्य में गुणों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये वामन ने कहा है—'युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यम्' इत्यादि तथा—'यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यः' इत्यादि। अर्थात्—

'जैसे--किसी सुन्दरी युवती का अङ्ग अलङ्काररहित होने पर भी केवल गुणों के द्वारा रसिकों को रुचिकर लगता है। तथा उत्तम अलङ्कारों की योजना से अत्यधिक रति उत्पन्न करता है उसी प्रकार काव्य अलङ्कारों के बिना भी केवल गुणों के द्वारा सहृदयों को आनन्द प्रदान करता है तथा निरन्तर उत्तम अलङ्कारों की योजना से सहृदयों के हृदय को आकृष्ट कर लेता है।'

'किन्तु नायिका के यौवनरहित शरीर पर स्वभावतः सुन्दर अलङ्कार भी जैसे शोभाहीनता को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही यदि कविवाणी गुणों से रहित हो तो सहृदयों को आकृष्ट करने वाले अलङ्कार भी निश्चय ही शोभाहीन होकर शोभाविघातक हो जाते हैं।'

गुण तथा अलङ्कार में भेद—गुण तथा अलङ्कार में भेद का प्रतिपादन करते हुये ग्रन्थकार ने कहा है—'तिलकाद्यमिव' इत्यादि। जैसे—नायिका के शरीर से पृथक् तिलक आदि भूषण होते हैं, उसी प्रकार वाणी की प्रकृति (शरीर काव्य) से भिन्न सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाले अनुप्रास तथा उपमादि भूषण होते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि नायिका तथा तिलकादि में भूष्यभूषण-भाव सम्बन्ध होता है। वहाँ नायिका भूष्या तथा तिलक आदि भूषण होते हैं। उसी प्रकार काव्य रसादि एवं अलङ्कार में भी अलङ्कार्य-अलङ्कारकभाव सम्बन्ध होता है। काव्य के आत्माभूत रसादि अलङ्कार्य तथा अनुप्रासोपमादि अलङ्कारक होते हैं। तथा इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि जैसे—भूष्य-भूषण में भेद होता है, नायिका के अवयव पृथक् होते हैं तथा कटककुण्डल आदि भूषण उनसे भिन्न होते हैं तथा आभूषणों से नायिका के अवयवों की शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार काव्य केशरीरभूत शब्दार्थ तथा आत्माभूत रसादि से अनुप्रासोपमादि अलङ्कार पृथक् होते हैं एवम् उनमें उत्कर्षता का आधान करते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह प्राप्त होता है कि अलङ्कार उत्कर्षाधायक हैं। गुण इन अलङ्कारों से पृथक् तत्त्व है, क्योंकि गुण काव्यशोभा के सम्पादक-तत्त्व हैं। जैसा कि गुणालङ्कार का भेद प्रतिपादित करते हुये आचार्य वामन ने कहा है—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।'

काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले तत्त्व को गुण कहते हैं। तथा—

'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः'

गुणों के द्वारा उत्पन्न शोभा में अतिशयता के हेतु (शोभा को बढ़ाने वाले) अलङ्कार कहलाते हैं।

॥ श्रीः ॥

चन्द्रालोकः

संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथमो मयूखः

❀

उच्चैरस्यति मन्दतामरसतां जाग्रत्कलङ्कैरव-
ध्वंसं हस्तयते च या सुमनसामुल्लासिनी मानसे ।
दुष्टोद्यन्मदनाशनार्चिरमला लोकत्रयीदर्शिका
सा नेत्रत्रितयीव खण्डपरशोर्वाग्देवता दीव्यतु ॥१॥

संस्कृत व्याख्या—अत्र प्रारिप्सितग्रन्थपरिसमाप्तिकामः, कारयित्री भावयित्री चेत्युभयविधभावनाभावितहृदयः, आलोचककविः महाकविर्जयदेवः 'आदौ मध्येऽन्ते च मङ्गलं कुर्यादि'ति शिष्टजनसमुदाचारं स्मारं स्मारं पूर्वं मङ्गलं समाचरन् वाग्देवतां प्रणमति—

खण्डो देवासुरसंग्रामे भग्नः परशुः शस्त्रविशेषः कुठारो यस्य तस्य भगवतः शङ्करस्य नेत्राणां नयनानां त्रितयी त्रिसंख्या इव यथा सा प्रसिद्धा वाग्देवता सरस्वती दीव्यतु द्योततां सर्वोत्कर्षेण वर्ततामिति कविकर्तृकनमस्कार आक्षिप्यते । कीदृशी सा ? इति विशेषजिज्ञासायामुच्यते—उच्चैरस्यतीत्यादि । या मन्दतां बुद्धिमान्द्यम् अरसतां नीरसतां च उच्चैः शीघ्रं यथा स्यात्तथा अस्यति दूरं प्रक्षिपति मन्दतां नीरसतां चापहाय तीक्ष्णतायाः सरसताश्चाधानं करोति, नेत्रत्रयीपक्षे—मन्दान्यविकसितानि च तानि तामरसानि कमलानि तेषां भावस्तत्ता कमलविका-

साभावत्वमुच्चैः शीघ्रमस्यति दूरीकरोति कमलानि विकासयतीति भावः, जाग्रतो जागरूकाः समासे चञ्चल्यमानाश्च ते कलङ्का अज्ञानादयस्तेषां रवस्य वचनस्य ध्वंसो विनाशो मूकत्वादिस्तं हस्तयते गलहस्तेन दूरं करोति—'मूकं करोति वाचालम्' इत्यादिरूपेणेति पक्षे—जागरत्यो देदीप्यमानाः कला अंशा यस्मिन् तत् जाग्रत्कलं यथा स्यात्तथा कैरवानां कुमुदानां ध्वंसो विनाशो विकासाभाव इति तं हस्तयते दूरीकरोति कुमुदानि विकासयतीति भावः, या च सुमनसां विदुषांसहृदयानामिति भावः, मानसे हृदये उल्लासिनी उल्लसनशीला प्राप्तविकासेति पक्षे—मानसे (मान)सरोवरे सुमनसां पुष्पाणामुल्लासिनी विकासिनी, दुष्टेषु पण्डितम्मन्यमानेषु उद्यन्तः प्रसरन्तो ये मदाः सर्वतोऽहङ्कारास्तेषां नाशनं विनाशकमर्चिस्तेजो यस्याः सा मिथ्या पाण्डित्यमदमत्तानां मदविनाशिनी, पक्षे—दुष्टश्चासावुद्यन्मनसि जायमानो यो मदनस्तस्याशनं दूरीकरणं विनाशकमर्चिर्यस्या सा मदनविनाशकतेजःसम्पन्नेति, अमला निर्मलेत्युभयपक्षे लोकानां भूर्भुवःस्व इत्यादीनां त्रयी त्रिसंख्या तस्या दर्शिका ज्ञानेन पक्षे प्रकाशेन च प्रदर्शिनीति ।

अत्र कविनिष्ठवाग्देवताविषयकरतिभावात् भगवतः शङ्करस्य नेत्रत्रयीविषयकरतिभावाच्च भावध्वनिः । वाग्देवतायाः खण्डपरशुनेत्रत्रय्या सादृश्यप्रतिपादनादुपमाऽलङ्कारः, सा चोपमा पूर्णा वाग्देवतेत्युपमेयस्य, नेत्रत्रयीत्युपमानस्य, इवेति वाचकस्य शब्दस्य, उच्चैरस्यतीत्यादीनां साधारणधर्माणां च शब्दोपात्तत्वात् । साधारणधर्माणां श्लिष्टत्वादियं श्लेषानुप्राणिता पूर्णोपमेति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणात् ।

हिन्दी व्याख्या—कमलों के सङ्कोच को शीघ्र दूर करने वाली (शीघ्र कमलों को विकसित करने वाली), देदीप्यमान कलाओं के द्वारा कुमुदों के विकासाभाव को दूर करने वाली (कुमुदों को विकसित करने वाली), सरोवर में पुष्पों को विकसित करने वाली, दुष्ट मदन (कामदेव) का विनाश करने वाले तेज से सम्पन्न, निर्मल तथा तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाली, भगवान् शंकर की नेत्रत्रयी के समान, बुद्धि की मन्दता एवं नीरसता को शीघ्र दूर करने वाली (बुद्धि को तीक्ष्ण एवं सरस बनाने वाली), जागरूक एवं चञ्चल अज्ञा-

नादि कलङ्कों के द्वारा स्वध्वंस (मूकता) को दूर करने वाली (मूक को वाचाल बनाने वाली), सहृदयों के हृदय में उल्लसित होने वाली, दुष्ट एवं हृदय में बढ़ने वाले अहङ्कार को नाश करने वाले प्रकाशपुञ्ज से सम्पन्न, निर्मल तथा तीनों लोकों को ज्ञान के द्वारा प्रकाशित करने वाली वाग्देवता (सरस्वती) द्योतित होवे (मेरे हृदय में सर्वोत्कृष्ट रूप से रहे)।

विशेष—शिष्टजनव्यवहृत समुदाय का पालन करते हुये ग्रन्थकार ने यहाँ वाग्देवता को आराधना करते हुये निर्विघ्नतापूर्वक ग्रन्थ की परिसमाप्ति के लिये मङ्गल किया है ॥१॥

हंहो ! चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः ! संवर्धयध्वं रसान्
रे रे स्वैरिणि ! निर्विचारकविते ! मास्मत्प्रकाशी भव ।
उल्लासाय विचारवीचिनिलयालङ्कारवारांनिधे-
श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती ॥२॥

संस्कृत व्याख्या—अत्र ग्रन्थ-ग्रन्थकारयोः परिचयमुपस्थापयन् ग्रन्थकर्ता कथयति—'हंहो' इत्यादि । यद्यपि 'हं'-पदमनुनयपरमिति कोषकारैः प्रतिपादितं 'हं रोषभाषणेऽनुनयेऽपि च' इति हैमकोषे दर्शनात्, 'हो'-पदं सम्बोधनपरं तथापि प्रकृते एकनिष्ठसम्बोधनमेव हंहो ! हे चिन्मयानि ज्ञानरूपाणि ज्ञानयुक्तानीति च तानि चित्तानि मनांसि कविहृदयानीति यावत् एव चन्द्रमणयश्चन्द्रकान्तमणयः ! रसाः शृङ्गारादय एव रसा जलानि तान् संवर्धयध्वं वृद्धिं प्रापयत । रे इति नीच-सम्बोधने रे स्वैरिणी स्वेच्छाचारिण्यभिसारिके ! निर्गताः निःसृता न सन्तीति विचाराः भावनाविशेषा यस्यां सा निर्विचारा चेयं कविता कविकर्मभूता निकृष्ट-कविते ! अस्मत् मत्तः मा नहि प्रकाशीभव प्रकाशं प्राप्नोतु, विचाराः काव्य-भावना एव वीचयस्तरङ्गा तेषां निलयो निवासस्थानभूतो, अलङ्कारा उपमादय एव वारांनिधिः समुद्रः, तस्य उल्लासाय विकासाय वृद्धय इति चन्द्रालोकस्तन्मा-मको ग्रन्थ एव चन्द्रालोकश्चन्द्रप्रकाशस्तमयं शब्दात्मनोपस्थितः कृती स्वनामधन्यः सुधी पीयूषवर्षः पीयूषवर्षोपनामको महाकविर्जयदेवः स्वयं वितनुते करोति विस्ता-

रयतीति भावः । अर्थात् यथा चन्द्रकान्तमणिश्चन्द्रकिरणस्पर्शात् जलबिन्दून् स्रावयति तथैव मदीयमिदं हृदयं शृङ्गारादि नवरसान् प्रकाशतु, यथा च स्वैरिणी कृष्णाभिसारिका चन्द्रप्रकाशे शुक्लाभिसारिका तु दिने बहिर्न निःसरति, तथैव हे निकृष्टकविते मत्तो जयदेवतो त्वमपि मा प्रसरतु । यथा च चन्द्रालोकेन वीचिनिचये वारांनिधौ वृद्धिर्जायते तथा मत्कृतेनानेन चन्द्रालोकेनालङ्कारविचारस्योल्लासो भवतु इति मत्वा कृती पीयूषवर्षो महाकविर्जयदेवश्चन्द्रालोकनामकं ग्रन्थं स्वयं करोति । एवञ्च काव्यस्वरूप-रसालङ्कारप्रतिपादनमस्य ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यविषय इति सुस्पष्टम् ।

अत्र चिन्मयचित्ते चन्द्रमणीनाम्, रसे रसानाम्, निर्विचारकवितायां स्वैरिण्याः, विचारेषु वीचीनाम्, अलङ्कारे वारांनिधेः चन्द्रालोके च चन्द्रालोकस्यारोपाद् रूपकम् । चन्द्रालोके चन्द्रालोकस्यारोपणं प्रति पूर्वोक्तानामन्येषां कारणात् परम्परितम्, रसचन्द्रालोकादीनां श्लिष्टत्वात् श्लिष्टमिति श्लिष्टपरम्परितरूपकालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥२॥

हिन्दी व्याख्या—हे ज्ञानमयचित्तरूपी चन्द्रकान्तमणियों ! तुम लोग रसों (जल) को संवर्द्धित करो, हे स्वेच्छाचारिणि ! विचाररहित (निकृष्ट) कविते ! तुम हमसे प्रकाशित मत होवो । विचाररूपी तरङ्गों के निवासस्थान अलङ्काररूपी समुद्र को उल्लसित (तरङ्गित) करने के लिये कृती (विद्वान्) जयदेव चन्द्रालोक (ग्रन्थ) रूपी चन्द्रालोक (चन्द्रप्रकाश) का स्वयं निर्माण कर रहे हैं ।

प्रस्तुत श्लोक में चिन्मयचित्त में चन्द्रमणि, रस (शृंगारादि) में रस (जल), निर्विचारकविता में स्वैरिणी (अभिसारिका), विचार में वीचि (तरङ्ग), अलंकार में समुद्र तथा चन्द्रालोक (ग्रन्थ) में चन्द्रालोक (चन्द्रप्रकाश) का आरोप होने के कारण रूपक होगा । चन्द्रालोक में चन्द्रालोक के आरोप के प्रति पूर्वोक्त अन्य आरोप कारण हैं । अतः यह परम्परित रूपक होगा । रस एवं चन्द्रालोक में श्लेष होने के कारण इसको श्लिष्टपरम्परित रूपक अलङ्कार कहेंगे ।

विशेष—इस श्लोक के द्वारा ग्रन्थकार ने यह प्रतिपादित किया है कि इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है—काव्यस्वरूपविचार एवं रसालङ्कारादि के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन ॥२॥

युक्त्यास्वाद्यलसद्रसैकवसतिः साहित्यसारस्वत-
क्षीराम्भोधिरगाधतामुपदधत्सेव्यः समाश्रीयताम् ।
श्रीरस्मादुपदेशकौशलमयं पीयूषमस्माज्जग-
ज्जाग्रद्भासुरपद्मकेशरयशःशीतांशुरस्माद् बुधाः ॥३॥

संस्कृत व्याख्या—हे बुधाः काव्यभावनापरिपक्वहृदयाः सहृदयाः विद्वान्सः ! युक्त्या उपायैः साधकबाधकप्रमाणैरिति भावः, आस्वाद्याः सहृदयैरास्वादयितुं योग्याश्च ल सन्तः शोभनशीलाश्च ते रसाः शृङ्गारादयो नवसंख्याका रसास्तेषामेकं केवलं प्रधानं वा वसतिः निवासस्थानभूतः; अगाधतां गम्भीरतामुपदधत् बिभ्रत्, सर्वथाऽऽस्वाद्यनवरसस्वरूपप्रतिपादक इति भावः, सरस्वत्या इदं सारस्वतं वाग्रूपमिति साहित्यं च तत् सारस्वतमिति साहित्यसारस्वतं साहित्यं नाम वाङ्मयमेव क्षीरस्य दुग्धस्याम्भोधिः सागरः सेव्यः आस्वाद्यः । अस्मात् साहित्यक्षीरसागरसेवनात् श्रीः लक्ष्मीः, अनेन लक्ष्मीप्राप्तिरिति, अस्मात् उपदेशानां कौशलं पटुत्वं तस्य विकारस्तत् उपदेशपाटवस्वरूपं पीयूषममृतम्, अनेनामृतप्राप्तिरिति, अस्मात् जगति संसारे जाग्रद् विकसितं भासुरं देदीप्यमानं च तत् पद्म कमलं तस्य केशरस्य पराग इव यद् यशः कीर्तिस्तद्रूपः शीतांशुश्चन्द्रमा समाश्रीयतां, प्राप्तुवन्तु अनेन चन्द्रप्राप्तिरिति स्पष्टम् । अर्थाद्यथा युक्त्या आस्वाद्य—(पेय)जलानामेकमात्रं वसतिः क्षीरसागरोऽगाधोऽपि सेव्योऽस्ति तत्सेवनेन लक्ष्म्याः, अमृतस्य, चन्द्रमसश्च प्राप्तिर्जाता तथैवास्यास्वाद्यरसानामेकमात्रप्रतिपादकस्य सारस्वतस्य साहित्यस्य (साहित्यशास्त्रग्रन्थस्य वा) सेवनेन धनप्राप्तिः, उपदेशप्राप्तिः, यशप्राप्तिश्चेति ग्रन्थप्रयोजनं सुस्पष्टम् । यथोक्तं काव्यप्रकाशे—'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' ॥३॥

हिन्दी व्याख्या—हे सहृदयवृन्द ! साधकबाधकप्रमाणभूत युक्तियों (पक्षा०—शोधनादि उपायों) के द्वारा आस्वादनयोग्य (पक्षा०—पेय) एवं शोभायमान शृंगारादि रसों (पक्षा०—जलों) का एकमात्र निवासस्थान तथा अगाध गाम्भीर्य को धारण करने वाला, साहित्य रूपी सारस्वत (सरस्वती सम्बन्धी) क्षीरसागर आप लोगों के सेवन करने के योग्य है । आपलोग इससे श्री (लक्ष्मी), उपदेशकुशलतारूपी अमृत, तथा संसार (रूपी सरोवर) में विकसित एवं देदीप्यमान कमल के पराग के समान (प्रतीत होने वाले) यशरूपी चन्द्रमा को प्राप्त करें ।

अर्थात् शोधनादि उपायों के द्वारा पेय एवं शोभायमान जल के एकमात्र निवासस्थान तथा अगाध क्षीरसागर के सेवन से जैसे लक्ष्मी, अमृत एवं चन्द्रमा की प्राप्ति हुई, उसी प्रकार सारस्वत साहित्यशास्त्र (इस ग्रन्थ) के सेवन से लक्ष्मी (धन) की प्राप्ति, यश की प्राप्ति तथा उपदेश की प्राप्ति होगी ।

विशेष—इससे ग्रन्थकार ने धन, उपदेश एवं यश की प्राप्ति को इस ग्रन्थ का (अथवा काव्य का) प्रयोजन सिद्ध किया है । जैसा कि काव्यप्रकाशकार ने 'काव्यं यशसे०' इत्यादि कारिका में यशःप्राप्ति, धनप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अमङ्गल की निवृत्ति एवं कान्तासम्मित वाक्य के रूप में उपदेश देने को काव्य का प्रयोजन सिद्ध किया है ॥३॥

तं पूर्वाचार्यसूर्योक्तिज्योतिस्तोमोद्गमं स्तुमः ।
यं प्रस्तूय प्रकाशन्ते मद्गुणास्त्रसरेणवः ॥४॥

संस्कृत व्याख्या—तत्र पूर्वाचार्यान्प्रति स्वकृतज्ञतां प्रकाशयन् कथयति—तमित्यादि । तं प्रसिद्धं पूर्वाः प्राचीनाश्च ते आचार्याः काव्यशास्त्रप्रणेतारो व्यास-भरतादयस्त एव सूर्या भानवस्तेषामुक्तयो वचनान्येव ज्योतींषि नानाविधाः प्रकाशास्तेषां स्तोमः समूहस्तस्योद्गम उत्पत्तिस्थानरूपस्तं स्तुमः प्रशंसयामः प्रणमाम इति, यं प्रस्तूय प्रशंस्य स्तुतिं कृत्वा समाश्रित्येति भावः, मम मदीया गुणाः वैदुष्यादय एव त्रसरेणवः जालान्तर्गतदृश्यमानानि भानुकिरणसूक्ष्मरजःकणानि प्रकाशन्ते दृग्गोचरी भवन्ति । त्रसरेणुलक्षणं यथा मनुस्मृतौ—

जालान्तर्गते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत् द्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते ॥

त्रसरेणोः षष्ठतमो भागः परमाणुरित्युच्यत इति नैयायिकानां मतम्—

जालान्तर्गते भानौ सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

अत्र पूर्वाचार्येषु सूर्याणां तदुक्तिषु ज्योतिषां तथा च गुणेषु त्रसरेणूनां समारोपाद्रूपकालङ्कारः, कविनिष्ठपूर्वाचार्यविषयकरतिभावाद् भावध्वनिश्चेति ॥४॥

हिन्दी व्याख्या—हम उस पूर्वाचार्यरूपी सूर्यों के उक्तिरूपी प्रकाशसमूह के उत्पत्तिस्थान (कवियों, काव्यशास्त्रियों) की स्तुति (प्रणाम) करता हूँ, जिसकी स्तुति करके (सहारा लेकर) मेरे गुणरूपी त्रसरेणु प्रकाशित होते हैं।

विशेष—खिड़की के रास्ते प्रविष्ट होने वाली सूर्य की किरणों में जो छोटे-छोटे कण दिखलाई पड़ते हैं, उन्हें त्रसरेणु कहते हैं। जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है—'जालान्तर्गतं' इत्यादि। इसी त्रसरेणु का छठवाँ भाग परमाणु कहलाता है—यह नैयायिकों का मत है—'जालान्तर्गतं' इत्यादि।

यहाँ पूर्वाचार्यों में सूर्य, उनकी उक्तियों में ज्योति तथा गुणों में त्रसरेणु का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार है, तथा कविनिष्ठ पूर्वाचार्यविषयक रतिभाव होने के कारण भावध्वनि है ॥४॥

5 **नाशङ्कनीयमेतेषां मतमेतेन दूष्यते।**
किन्तु चक्षुर्मृगाक्षीणां कज्जलेनेव भूष्यते ॥५॥

संस्कृत व्याख्या—ननु पूर्वेषामाचार्याणां ग्रन्थेषु सत्सु त्वदीयस्यास्य ग्रन्थस्य काऽऽवश्यकतेति जिज्ञासायामुच्यते —एतेन मदीयेनानेन ग्रन्थेनैतेषां पूर्वाचार्याणां व्यास-भरत-दण्डि-भामहादीनां मतं सम्मतं सिद्धान्तो दूष्यते दोषतां यास्यति तेषां खण्डनं भविष्यतीति कथमपि न नहि आशङ्कनीयमासंशयितव्यम्, किन्तु यथा मृगस्य हरिणस्याक्षिणी इवाक्षिणी यासां ताः मृगाक्ष्यो मृगनयन्यस्तासां चक्षुर्नेत्रं कज्जलेन कृष्णतासम्पादकेन कृष्णेन भूष्यते समलङ्क्रियते न तु दूष्यते

तथैव पूर्वाचार्यग्रन्थेषु दोषोद्घाटकेनापि मदीयेनानेन ग्रन्थेन चन्द्रालोकेन तेषां मतं न दूष्यते अपि तु भूष्यत एवेति स्मारं स्मारं सत्स्वपि पूर्वाचार्यग्रन्थेषु मदीयस्यास्य ग्रन्थस्यावश्यकतामनुभवन्तु सहृदया इति भावः ॥५॥

हिन्दी व्याख्या—मेरे इस ग्रन्थ से पूर्व आचार्यों का मत दूषित होगा—इस प्रकार की आशङ्का नहीं करनी चाहिये, किन्तु जैसे कज्जल के द्वारा मृगनयनियों के आँख की शोभा बढ़ती है, घटती नहीं (वैसे ही मेरे ग्रन्थ से पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों की शोभा बढ़ेगी ही) ऐसा समझना चाहिये।

विशेष—पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के रहते हुए आपके इस ग्रन्थ की उपादेयता क्या है ? इस जिज्ञासा की शान्ति इस श्लोक में की गई है ॥५॥

काव्यकारणतां प्रतिपादयति—

प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लतामिव ॥६॥

संस्कृत व्याख्या—लोकोत्तराह्लादजनकस्य मोक्षसोपानपरम्परायमानस्य, वेदशास्त्रविलक्षणस्य, शब्दार्थशरीरकस्य काव्यस्य कारणतां प्रतिपादयन्नाह—प्रतिभैवेत्यादि।

मृदम्बुसम्बद्धा बीजमाला लताम् इव श्रुताभ्याससहिता प्रतिभा एव कवितां प्रति हेतुः।

मृत् मृत्तिका, अम्बु जलं, ताभ्यां सम्बद्धा संयुक्ता बीजमाला बीजसमूहः लतां वल्लरीं प्रति हेतुरिव श्रुतं शास्त्रज्ञानं लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणतेति भावः, अभ्यासः काव्यकरणे तत्समालोचने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिस्ताभ्यां निपुणताभ्यासाभ्यां सहिता संयुक्ता प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा एवेत्यन्ययोगव्यवच्छेदः कवितां कविकर्मभूतकाव्यं प्रति हेतुः कारणम्।

अयं भावः—यथा लतायाः उत्पत्तिं प्रति मृत्तिकया जलेन च सम्बद्धा बीजलता कारणं भवति, यतो हि नहि केवलेन मृदा जलेन वा किं बहुना नहि केवलेन बीजेन लता जायते अपितु मृदम्बुसम्बद्धमेव बीजं लतां प्रति हेतुस्तथैव कवितां

015:8 x 1+10.1
152 ~ 89

प्रति श्रुताभ्याससहिता एव प्रतिजा हेतुः, न तु केवलं प्रतिभैव श्रुतं वा अभ्यासो वा। अर्थात् यथा घटम्प्रति दण्डचक्रचीवरादीनां सम्मिलितकारणता भवति, तथैव कवितां प्रति प्रतिभाश्रुताभ्यासादीनामिति ज्ञेयम्।

इदमत्राकूतम्—कारणता द्विधा भवति, दण्डचक्रचीवरादिन्यायेन तृणारणिमणिन्यायेन चेति। तत्र प्रथमा कारणता समस्ता (सम्मिलिता), द्वितीया तु व्यस्ता भवति। दण्डचक्रचीवरादिषु सर्वेषु सत्स्वेव घटो जायते। अतएव घटम्प्रति एतेषां सर्वेषां सम्मिलिता कारणता भवति, यतो हि केवलेन दण्डेन चक्रेण चीवरेण वा घटनिर्माणं नहि भवितुमर्हति किन्तु दाहम्प्रति तृणं पृथक् कारणम्, अरणिः पृथक्, मणिरपि पृथक् कारणमिति एतेषां दाहम्प्रति पृथक् पृथक् व्यस्तकारणतेति। लताम्प्रति मृदम्बुबीजमालादीनाम्, काव्यम्प्रति प्रतिभाश्रुताभ्यासादीनां च दण्डचक्रचीवरादिन्यायेनैव कारणतेति सिद्धम्।

ननु कवितां प्रति प्रतिभाश्रुताभ्यासादीनां सम्मिलितकारणतायां प्रतिभाश्रुताभ्यासाः कवितां प्रति हेतुरिति सामान्येन कथं नोक्तम्? यथोक्तं काव्यप्रकाशे—'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे'॥ श्रुताभ्याससहिता प्रतिभेति प्रकारान्तरेण कथमुक्तमिति चेदुच्यते—काव्यं प्रति प्रतिभा कारणं प्रतिभां प्रति तु श्रुताभ्यासाविति काव्यं प्रति प्रतिभायाः साक्षात् कारणता, प्रतिभां प्रति श्रुताभ्यासयोः साक्षात् कारणता भवति किन्तु काव्यं प्रति श्रुताभ्यासयोः परम्परासम्बन्धेनेति सामान्येन त्रितयं नोक्तम्, अपि तु श्रुताभ्याससहिता प्रतिभेति प्रकारान्तरेणैवेति। यथोक्तं पण्डितराजेन रसगङ्गाधरे—"तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ"॥६॥

हिन्दी व्याख्या—लोकोत्तराह्लादजनक, मोक्षसोपानपरम्परायमान, वेदशास्त्रविलक्षण, शब्दार्थशरीर वाले काव्य की कारणता का प्रतिपादन करते हुये कहा है—'प्रतिभैवं' इत्यादि।

R.S.V.V. LIBRARY 064482 TIRUPATI

मिट्टी एवं जल से सम्बद्ध बीजमाला जैसे लता की उत्पत्ति के प्रति कारण होती है, उसी प्रकार श्रुत (शास्त्रज्ञान, लोक, शास्त्र एवं काव्य-आदि के अवेक्षण से उत्पन्न होने वाली (निपुणता) तथा अभ्यास (काव्य रचना एवं समालोचना करने में बार-बार प्रवृत्ति) से युक्त प्रतिभा (नये-नये विचारों से सुशोभित होने वाली विलक्षण बुद्धिप्रज्ञा) कविता अथवा कविकर्मभूत काव्य के प्रति कारण होती है।

भाव यह है कि—जिस प्रकार लता की उत्पत्ति के प्रति मिट्टी एवं जल से संयुक्त बीजमाला कारण होती है, क्योंकि केवल मिट्टी से अथवा जल से, अधिक क्या कहें, केवल बीजमाला से लता की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अपितु मिट्टी एवं जल का संयोग प्राप्त होने पर ही बीज से लता उत्पन्न हो सकती है, उसी प्रकार कविता के प्रति श्रुत (शास्त्रज्ञान) तथा अभ्यास से युक्त प्रतिभा ही कारण होती है। केवल प्रतिभा, श्रुत तथा केवल अभ्यास से कविता की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अर्थात् काव्य के प्रति प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास की वैसी ही सम्मिलित कारणता होती है, जैसे घट के प्रति दण्ड, चक्र एवं चीवर की।

रहस्य यह है कि, कारणता दो प्रकार की होती है—१. 'दण्डचक्रचीवरादि'-न्याय से तथा २. 'तृणारणिमणि'-न्याय से। इनमें प्रथमा कारणता को समस्त (सम्मिलित)-कारणता तथा द्वितीया को व्यस्त(पृथक्-पृथक्)-कारणता कहते हैं। घटनिर्माण के प्रति दण्ड, चक्र एवं चीवर तीनों सम्मिलित रूप से कारण हैं, क्योंकि इन तीनों के रहने पर ही घटनिर्माण हो सकता है। इनमें से किसी एक के भी अभाव में घट-निर्माण नहीं हो सकता। किन्तु अग्निदाह के प्रति तृण, अरणि एवं मणि तीनों पृथक्-पृथक् कारण हैं, अग्नि के जलने के लिये इन तीनों का एक साथ होना कोई आवश्यक नहीं। तृण में माचिस घिस कर लगा देने पर अग्नि जल उठती है, अरणिमन्थन से अग्नि की दाहकता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सूर्यकान्त मणि में सूर्य के संयोगमात्र से दाहकता आ जाती है। इस प्रकार तृण को अरणि एवं मणि की, अरणि को तृण एवं मणि की तथा मणि को तृण एवं अरणि की आवश्यकता नहीं होती। अतः अग्निदाह के प्रति इन तीनों की पृथक्-पृथक् व्यस्त कारणता मानी गई है।

इस प्रकार लता के प्रति मृत् (मिट्टी), जल एवं बीजमाला की तथा काव्य के प्रति प्रतिभा, श्रुत (शास्त्रज्ञान) एवं अभ्यास की 'दण्डचक्रचीवरादि'-न्याय न्याय से सम्मिलित कारणता सिद्ध है ।

शङ्का—कविता के प्रति प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास की सम्मिलित कारणता कहने पर 'प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास कविता के प्रति कारण हैं' इस प्रकार सामान्य रूप से इनकी काव्य-कारणता का प्रतिपादन क्यों नहीं किया गया ? जैसा कि काव्यप्रकाश में कहा गया है—शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् । काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥' अर्थात् शक्ति, लोक, शास्त्र तथा काव्यादि के अवेक्षण से प्राप्त निपुणता एवं काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास—ये तीनों काव्य के निर्माण में कारण हैं । 'श्रुत एवं अभ्यास से संयुक्त प्रतिभा काव्य के प्रति कारण है' इस प्रकार प्रकारान्तर से क्यों कहा गया है ?

समाधान—काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है तथा प्रतिभा के प्रति श्रुत एवं अभ्यास कारण हैं । इस प्रकार काव्य के प्रति प्रतिभा की साक्षात् कारणता है एवं प्रतिभा के प्रति श्रुत तथा अभ्यास साक्षात् कारण हैं किन्तु काव्य के प्रति श्रुत तथा अभ्यास परम्परा सम्बन्ध से कारण हैं । इस रहस्य का प्रतिपादन करने के लिये ही इन तीनों की सामान्यरूप से कारणता की बात नहीं कही गई, अपितु 'श्रुताभ्याससहिता प्रतिभा काव्य के प्रति कारण है' इस रूप में प्रकारान्तर से कहना पड़ा । जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में कहा है कि—'कविगता केवला प्रतिभा काव्य के प्रति कारण है । प्रतिभा के प्रति कहीं देवता या महापुरुष के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट तथा कहीं-कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति एवं काव्य बनाने का अभ्यास कारण हैं ॥६॥

काव्यस्वरूपं प्रतिपादयति—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनाममाक् ॥७॥

संस्कृत व्याख्या—काव्यस्वरूपं प्रतिपादयन्ता निर्दोषेत्यादि—वाक् (उच्यतेऽनेनेति शब्दः, उच्यतेऽसाविति अर्थः) काव्यं कविकर्म, तस्य

नाम संज्ञां भजतीति संक्षेपेण वाक् काव्यमिति । कीदृशी वाक् काव्यमिति विशेष-जिज्ञासायामुच्यते—निर्दोषा दोषरहिता, लक्षणवती शोभादिभिर्लक्षणैः सम्पन्ना, वैदर्भ्यादिभिः रीतिभिर्युक्ता, प्रसादादयो गुणाः भूषणानि शोभाकराण्युत्कर्षकाणीति यावत् यस्याः सा, गुणैः विभूषिता इति भावः, अलङ्कारैः अनुप्रासोपमादिभिः, रसैः शृङ्गारादिभिः, अनेकैर्वृत्तिभिः कैशिक्यादिभिश्च सहिता युक्तेति पञ्च-विशेषणविशिष्टा वाक् काव्यमिति ।

यदि 'वाक्' काव्यमित्येतावन्मात्रमेव लक्षणं स्यात्तदा सामान्ययोः समाचार-पत्रस्थशब्दार्थयोरतिव्याप्तिः स्यात्, अतस्तद्वारणाय विशेषणान्युक्तानि । समा-चारपत्रस्थयोरेतेषां विशेषणानामभावात् न काचिद् विप्रतिपत्तिरिति सर्वं सुस्थम् ।

ननु 'निर्दोषे'ति विशेषणमनुपपन्नम्, सर्वथा दोषाभावत्वं काव्यत्वनियामकम् यत्किञ्चिद्दोषाभावो वेति प्रश्नद्वयस्य जागृतेः । न तत्र प्रथमः पक्षः सर्वथा निर्दो-षत्वस्यासम्भवात् यद्वा ध्वनित्वेनोत्तमकाव्यत्वेनाङ्गीकृतस्य—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्कच्छकृजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥'

इति श्लोकस्य विधेयशांविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात् (एवञ्चाव्याप्ति-दोषः स्यादिति) । यत्किञ्चिद्दोषाभावत्वे निर्दोषाया वाचः काव्यत्वं न स्या-दिति विप्रत्तिपत्तौ नित्यदोषरहितत्वमेव 'निर्दोषे'त्यनेनाभीष्टमिति ज्ञेयम् । लक्षण-रीति-गुणालङ्कारादयोऽप्युत्कर्षाधायकाः न तु स्वरूपाधायका इति चेन्न, स्वरूपं सामान्येन द्विविधं--बाह्यम्, आभ्यन्तरञ्चेति, तत्र वागिति विशेष्यदलं बाह्यस्वरूप-प्रतिपादकम्, लक्षण-रीति-गुणालङ्कारादीनि विशेषणानि त्वाभ्यन्तरस्वरूपप्रतिपाद-कानीति विशेषणानामपि स्वरूपाधायकत्वात् ॥७॥

हिन्दी व्याख्या—काव्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है 'निर्दोषा' इत्यादि—

काव्यस्वरूपप्रतिपादिका इस कारिका का प्रथमतः दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—१. लक्ष्य (जिसका लक्षण करना है) और २. लक्षण। इसमें लक्ष्य है—काव्य तथा शेष लक्षण है। लक्षण भाग के भी दो अंश हैं—विशेष्य तथा विशेषण। विशेष्य दल है वाक् तथा 'निर्दोषा' आदि विशेषणांश हैं। इस प्रकार सामान्यतया केवल विशेष्य के आधार पर 'वाक् काव्यनामभाक्' के रूप में 'वाक् काव्य कहलाती है'—यह निष्कर्ष रूप में प्राप्त होता है। 'उच्यतेऽनेनेति वाक्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द वाक् है, क्योंकि शब्द के द्वारा ही अर्थ का कथन होता है, जैसा कि महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने कहा है 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' (ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो बिना शब्दानुगम के हो सके)। 'उच्यतेऽसाविति वाक्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ 'वाक्'-पद से अभिहित है। इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर शब्द तथा अर्थ काव्य के लक्षण के रूप में गृहीत होते हैं। इस प्रकार 'शब्द तथा अर्थ को काव्य कहते हैं'—यह काव्य का लक्षण फलित हुआ।

यदि शब्दार्थ मात्र को काव्य का लक्षण मान लें तो यह लक्षण अखबार के शब्दार्थ में भी संघटित हो जायेगा तथा लक्षण अतिव्याप्ति (अलक्ष्ये लक्षणगमनम्) नामक दोष से दुष्ट हो जायगा। अतः यह लक्षण लक्षण ही नहीं हो पायेगा, क्योंकि इसमें 'अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषशून्यत्वं लक्षणत्वम्' (जो अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असंभव दोष से शून्य हो, वह लक्षण कहलाता है) यह लक्षण का लक्षण ही संघटित नहीं होगा। इस प्रकार अखबार के शब्दार्थ में अतिव्याप्ति वारण के लिये काव्यलक्षणभूत 'वाक्' को कुछ विशेषणों से आबद्ध करना पड़ा। वे विशेषण हैं—निर्दोषा, लक्षणवती, सरीतिः गुणभूषणा, सालङ्काररसानेक-वृत्तिः। अर्थात् एक व्याप्ति बनेगी—'जो-जो वाक् इन विशेषणों से विशिष्ट होगी, काव्य कहलायेगी तथा जहाँ-जहाँ इन विशेषणों से रहित वाक् होगी, उसे काव्य नहीं कहेंगे। इनका अर्थ है दोषरहित, शोभादि लक्षणों से युक्त, वैदर्भी आदि रीतियों से युक्त, माधुर्य आदि गुणों से सुशोभित, अनुप्रासोपमादि अलङ्कार, शृंगारादि रस एवं कैशिकी आदि अनेक प्रकार की वृत्तियों से युक्त वाक् **(शब्दार्थ) को काव्य कहते हैं।**

शङ्का--'निर्दोषा' यह विशेषण अनुपपन्न है, क्योंकि यहाँ सर्वथा दोषों का अभाव काव्यत्व का नियामक है या यत्किञ्चिद्दोषाभाव—ये दो प्रश्न जागृत हैं। इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि सर्वथा निर्दोषत्व असंभव है तथा पद-पद में ध्वनि होने के कारण उत्तम काव्य के रूप में स्वीकृत—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्कच्छकृजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिका विलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥'

इस श्लोक की, विधेयाविमर्शदोष से दुष्ट होने के कारण, काव्यता नहीं होगी। इस प्रकार काव्यलक्षण में अव्याप्ति (लक्ष्ये लक्षणासंगनम्) दोष आयेगा। द्वितीय पक्ष अर्थात् 'यत्किञ्चिद्दोषाभावत्व' को काव्यत्व का नियामक मानने पर सर्वथा निर्दुष्टा वाक् काव्य नहीं कहला पायेगी। अतः 'निर्दोषा' विशेषण से क्या अभीष्ट है ?

समाधान--यहाँ 'निर्दोषा' विशेषण से नित्य दोषों का अभाव अभीष्ट है। अर्थात् जहाँ नित्य दोषों का अभाव होगा उस 'वाक्' को काव्य कहेंगे। अनित्य दोषों के रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होगी। इस प्रकार काव्य की निर्विषयता या प्रविरलविषयता की आपत्ति नहीं आयेगी तथा 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोक में अकाव्यत्व की भी आपत्ति नहीं होगी, एवं सर्वथा निर्दुष्ट में भी अकाव्यत्वापत्ति नहीं होगी।

शङ्का--लक्षणघटक विशेषणांश में निर्दिष्ट लक्षण, रीति, गुण, अलङ्कार तथा वृत्ति भी उत्कर्षाधायक हैं, स्वरूपाधायक नहीं, क्योंकि लक्षण, रीति, गुण, अलङ्कार एवं वृत्ति से समन्वित काव्य उत्कृष्ट काव्य तथा इनसे रहित काव्य मध्यम या अधम कोटि का हो सकता है। इतना ही मात्र है। ये रहेंगे तभी काव्य होगा ऐसी कोई बात नहीं हो सकती। इस प्रकार ये सभी तत्त्व उत्कर्ष

का आधान कर सकते हैं, ये स्वरूप का कथन करने वाले नहीं हो सकते, तो इनका प्रयोग स्वरूप कथन में क्यों किया गया ?

समाधान--स्वरूप का प्रतिपादन सामान्यतया दो प्रकार से किया जाता है--१. बाह्यरूप में तथा २. आभ्यन्तर रूप में। लक्षणघटक विशेष्य दल 'वाक्' बाह्यस्वरूप का प्रतिपादक है तथा विशेषण आभ्यन्तर स्वरूप के प्रतिपादक हैं। इस प्रकार लक्षण, रीति, गुण, अलङ्कार तथा वृत्ति भी स्वरूपाधायक ही हैं, उत्कर्षाधायक नहीं। अतः काव्यस्वरूपप्रतिपादन में इनका उपयोग उपयुक्त ही है ॥६॥

विशेष--काव्यस्वरूपप्रतिपादन के सन्दर्भ में काव्यशास्त्रियों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है--१. शब्दः काव्यम् (शब्द को काव्य) मानने वाले तथा २. शब्दार्थौ काव्यम् (शब्द तथा अर्थ--दोनों को काव्य) मानने वाले। शब्द को काव्य मानने वाले आचार्यों में दण्डी, कान्तिचन्द्र शौद्धोदनि, केशवमिश्र, भोजराज, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रमुख हैं—

१. 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः'।
(काव्यादर्श १।१०, काव्यदीपिका १।३)

२. 'काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्'।
(अलङ्कारशेखर १।२, अलङ्कारसूत्र १।२)

३. 'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्'।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥ (स० क० १।२)

४. 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'।
(रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पृ० १०)

शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य मानने वाले आचार्यों में भामह, उद्भट, आनन्दवर्धन, वाग्भट, विद्यानाथ, अच्युतराय, हेमचन्द्र तथा मम्मट का नाम उद्धृत किया जा सकता है—

१. 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। (काव्याल० तथा का० सा० सं—१/१६)

२. 'सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः' ॥ (ध्वन्या० १।८

३. 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी' ॥ (वक्रो०जी० १/७)

४. 'साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये' ॥ (वाग्भटालङ्कार १।२)

५. 'गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः' ॥ (प्रतापरुद्रीयम् का० १)

६. 'तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्वे सति स्फुटम् ।
गद्यबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम् ॥' (साहित्यसार ध० र० १८)

७. 'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्' ॥
(काव्यानु० १, पृ० १६)

८. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' ॥ (काव्यप्रकाश१/४)

इन दोनों मतों के संस्थापक के रूप में अग्निपुराणकार महर्षि व्यास तथा नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि को माना जा सकता है। इनके काव्य लक्षण क्रमशः—

संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः ।
काव्यं स्फुटदलङ्कारं गुणवद्दोनवर्जितम् ॥—३३७।६-७

तथा—

मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
जनपरसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययुक्तम् ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकानाम् ॥—१७।१२१

हैं। इन दोनों वर्गों में 'वाक्' को काव्य मानने वाले आचार्य जयदेव प्रथम वर्ग के प्रति अपना पक्षपात प्रकट करते जान पड़ते हैं, किन्तु उन्होंने महर्षि व्यास

एवं विश्वनाथ के समान स्पष्टतः वाक्य, दण्डी तथा कान्तिचन्द्र के समान पदावलि एवं पण्डितराज जगन्नाथ के समान 'शब्द' का प्रयोग न करके भ्रामक 'वाक्' पद का प्रयोग किया, जिससे आलोचक गण 'उच्यतेऽनेन' तथा उच्यतेऽसौ' इन व्युत्पत्तियों के आधार पर इनको द्वितीय 'शब्दार्थौ काव्यम्' को मानने वाले वर्ग में सिद्ध करते हैं। इस प्रकार चन्द्रालोककार जयदेव शब्दार्थौ वादी हैं—ऐसा माना जाता है।

काव्यप्रकाशोक्त'मनलङ्कृती'ति विशेषणं दूषयन्नाह—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥ ८ ॥

संस्कृत व्याख्या—यः 'अनलङ्कृती शब्दार्थौ काव्यम्' इति अङ्गी करोति असौ कृती अनलम् अनुष्णमिति कस्मात् न अङ्गी करोति। यः काव्यप्रकाशकारो वाग्देवतावतारो मम्मटः अलङ्करणमलङ्कृतिरिति अलमुपपदात् 'कृ'-धातोः क्तिन् प्रत्ययः, न सन्त्यलङ्कृतयो ययोस्तौ अनलङ्कृती स्फुटालङ्काररहितौ, 'सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः' इति स्वयं काव्यप्रकाशकारेणैव प्रतिपादितत्वात्, शब्दश्चार्थश्चेति शब्दार्थौ (इत्युभयोः प्राधान्यख्यापनार्थम्) काव्यम् इति काव्यलक्षणमङ्गीकरोति स्वीकरोति असौ कृती स्वनामधन्यो महात्मा काव्यप्रकाशकारः 'अनलम् अग्निः अनुष्णम् उष्णतारहितं शीतलमिति भावः' इति कस्मात् कारणात् न मन्यते स्वीकरोति। अर्थाद्यथा अनुष्णमनलं भवितुं नार्हति तथैव अनलङ्कृती शब्दार्थौ काव्यं भवितुं नार्हतः। यथा अनलत्वे उष्णत्वं व्याप्तिः 'यत्र यत्रोष्णत्वं तत्र तत्रानलत्वम्' 'यत्रोष्णत्वं नास्ति तत्रानलत्वमपि नास्ति' इति अनुष्णत्वेऽनलत्वमसम्भवं तथैव शब्दार्थयोः काव्यत्वेऽलङ्कृतित्वं व्याप्तिरिति 'यत्र यत्रालङ्कृतित्वं तत्र तत्र काव्यत्वम्, यत्रालङ्कृतित्वं नास्ति तत्र काव्यत्वमपि नास्ति' इति। एवञ्चानलङ्कृतित्वे शब्दार्थयोः काव्यत्वमसम्भवम्।

अयं भावः—काव्यस्वरूपप्रतिपादनावसरे काव्यप्रकाशकारेण श्रीमम्मटेन 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति काव्यस्वरूपं प्रतिपादयता

काव्यत्वेनाङ्गीकृतयोः शब्दार्थयोः विशेषणत्रयं संयोजयता 'अनङ्कृती' इति शब्दार्थविशेषणमुक्तम् । स्वयं च तद्वृत्तौ व्याख्यातम्—'सर्वत्र सालङ्कारौ (शब्दार्थौ काव्यम्) क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः' किन्तु विशेषणमिदं सर्वत्र सर्वथा सालङ्कृतयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वमङ्गीकर्तुश्चन्द्रालोककारस्य श्रीजयदेवस्य कथमपि विचारसहं नास्ति । अतएव तत्खण्डयता तेन अनलमुदाहृतम् । अनलस्य विषये प्रसिद्धिरस्ति यत् अनलमुष्णं भवति, उष्णत्वाभावे पूर्वं काष्ठं पश्चाच्च विभूतिर्भवितुमर्हति नानलमिति उष्णत्वस्य व्याप्तित्वेन ग्रहणात् अनुष्णत्वेऽनलत्वमसम्भवमिति सुस्पष्टम्, तथैव शब्दार्थयोः काव्यत्वे अलङ्कृतित्वं व्याप्तित्वेन ज्ञेयम् । एवञ्चानलङ्कृतित्वे शब्दार्थयोः काव्यत्वमसम्भवमिति सर्वं सुस्थम् ॥ ८ ॥

हिन्दी व्याख्या—काव्यप्रकाशोक्त 'अनलङ्कृती' इस विशेषण का खण्डन करते हुये कहा है—'अङ्गीकरोति' इत्यादि । जो कृती (विद्वान्) अनलङ्कृती (जिनमें अलङ्कार न हों) अलङ्काररहित शब्दार्थ को काव्य के रूप में स्वीकार करता है, वह विद्वान् अग्नि अनुष्ण अर्थात् शीतल होती है—ऐसा क्यों नहीं मानता ? अर्थात् जिस प्रकार अनुष्ण (शीतल) अग्नि नहीं हो सकती, उसी प्रकार अनलङ्कृती (अलङ्काररहित) शब्दार्थ काव्य नहीं हो सकते । जिस प्रकार अग्नि के विषय में उष्णत्व व्याप्ति है 'जहाँ-जहाँ उष्णता रहेगी वहाँ-वहाँ अग्नि रहेगी, जहाँ उष्णता नहीं रहेगी वहाँ अग्नि नहीं रहेगी ।' इस प्रकार उष्णता के अभाव में अग्नि का होना असंभव है उसी प्रकार शब्दार्थ की काव्यता में अलङ्कार व्याप्तिरूप है—'जहाँ-जहाँ अलङ्कार रहेगा वहाँ-वहाँ शब्दार्थ में काव्यता होगी, जहाँ अलङ्कार नहीं रहेगा वहाँ शब्दार्थ में काव्यता नहीं होगी ।' इस प्रकार अलङ्काररहित शब्दार्थ की काव्यता असंभव है ।

तात्पर्य यह है कि—काव्यस्वरूपप्रतिपादन के असवर में काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मट ने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' (दोषरहित, गुणयुक्त एवम् अलङ्कारहित शब्दार्थ को काव्य कहते, किन्तु कहीं-

कहीं स्फुट अलङ्कार के न रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती) इस प्रकार काव्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये (काव्यरूप में अङ्गीकृत) शब्दार्थ के लिये तीन विशेषणों की योजना करते हुये 'अनलङ्कृती' को विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है। तथा स्वयं वृत्ति में उसकी व्याख्या भी किया है कि—सब जगह अलङ्कारयुक्त शब्दार्थ को काव्य कहते हैं, किन्तु कहीं स्फुट अलङ्कार के न रहने पर भी काव्यत्व की कोई हानि नहीं होती, किन्तु यह विशेषण सब जगह सर्वथा अलङ्कारयुक्त शब्दार्थ को काव्य मानने वाले चन्द्रालोककार श्रीजयदेव को सह्य नहीं है। अतएव इसका खण्डन करते हुये उन्होंने वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के लिये 'अनल' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

'अनल' के विषय में प्रसिद्धि है कि वह उष्ण होती है। उष्णत्व के अभाव में या तो पूर्वावस्था में वह काष्ठ हो सकती है या तो उत्तरावस्था में राख हो सकती है, अनल नहीं। इस प्रकार अनल के सम्बन्ध में उष्णता व्याप्ति के रूप में गृहीत है, उष्णता के अभाव में अनलत्व असंभव है—यह बिल्कुल स्पष्ट है। इसी प्रकार शब्दार्थ की काव्यता में अलङ्कृतित्व व्याप्तिरूप है—ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार अनलङ्कृतित्व (अलङ्काराभाव) की स्थिति में काव्यत्व बिल्कुल असंभव है ॥ ८ ॥

शब्द लक्षयति—

विभक्त्युत्पत्तये योग्यः शास्त्रीयः शब्द इष्यते।
रूढयौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः सह पुनस्त्रिधा ॥ ९ ॥

संस्कृत व्याख्या—काव्यत्वेनाभिमतायाः वाचो व्युत्पत्तिभेदात् शब्दार्थरूपत्वे क्रमशः प्रथमत्वात्, प्रथमोपस्थितेः अर्थस्योपस्थापकतया प्राधान्याच्च प्रथमं शब्दं लक्षयन्नाह—विभक्त्युत्पत्तये इत्यादि। विभक्तयः सुप्रूपाः तिङ्रूपाश्च तासामुत्पत्तये धारणाय योग्यः प्रयोगयोग्यतामापन्नः शब्दः वर्णसमुदायः शास्त्रीयः शास्त्रसम्बन्धी इष्यते कथ्यते। एवञ्चात्र शास्त्रीयशब्दत्वं लक्ष्यतावच्छेदकं न तु

शब्दत्वमात्रमेव । अर्थात् 'अपदं न प्रयुञ्जीत' तथा च 'विभक्त्यन्तं पदम्' इत्यादि। सिद्धान्तानां जागरूकतया विभक्तीनामुत्पत्तेः समागमादनन्तरमेव शब्दः प्रयोगयोग्यो भवति विभक्तिरहितवर्गसमुदायेनार्थस्याप्रतीतेः स विभक्तियुक्तः, प्रयोगयोग्यः अर्थ-समन्वितश्च शब्दः शास्त्रीयो व्याकरणशास्त्रानुकूल इति कथ्यते । एवं प्रथमं शब्दो द्विविधः—अशास्त्रीयः शास्त्रीयश्चेति । तत्राशास्त्रीयः शब्दो यथापि भवतु किन्तु शास्त्रीयः शब्द स एव भवितुमर्हति यो विभक्तियुक्तः, प्रयोगयोग्यः, निश्चितार्थ-प्रतिपादकश्च भवतीति । पुनः भूयः रूढः, यौगिकः, ताभ्यां भिन्नश्चेति रूढयौगिकतन्मिश्रास्तैः प्रभेदैः भेदोपभेदैः सह त्रिधा त्रिप्रकारको भवति—रूढः, यौगिकः, रूढयौगिकश्चेति । तत्र प्रकृति-प्रत्ययार्थविचारं विनैव केवलं समुदाय-शक्त्या अर्थप्रतिपादकत्वं रूढत्वम् । रूढिः प्रसिद्धिः, एवञ्च प्रसिद्धया यः शब्द अर्थविशेषं प्रतिपादयति स शब्दः रूढ इत्युच्यते । योगादागतो यौगिक इति सुस्पष्टम् । योगः प्रकृति-प्रत्ययार्थयोः सम्बन्धः सम्मिश्रणमिति, तस्मादर्थप्रतिपादकः शब्दः यौगिकः । रूढेन मिश्रो यौगिकः, यौगिकेन मिश्रो रूढः अर्थात् यः रूढोऽपि यौगिकोऽपि भवति, प्रकृतिप्रत्ययार्थविचारं विना, प्रकृतिप्रत्ययार्थविचारपूर्वकं चापि उभयथार्थप्रतिपादनं करोति स शब्दो रूढयौगिक इति ॥ ९ ॥

हिन्दी व्याख्या—काव्यरूप में अभिमत 'वाक्' का व्युत्पत्तिभेद से शब्द तथा अर्थ दोनों रूपों में ग्रहण होता है। इन दोनों में क्रमिक दृष्टि से प्रथम होने के कारण, दोनों में से शब्द की प्रथमतः उपस्थिति होने के कारण या यों कहें कि अर्थ का उपस्थापक होने से प्रधानता के कारण पहले शब्द का लक्षण करते हुये कहा है—'विभक्त्युत्पत्तये' इत्यादि। विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—सुप् तथा तिङ्। सुप् विभक्तियों की संख्या २१ है, जिनका उपयोग कारक(शब्दरूप)-रूप में किया जाता है। तिङ् विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—परस्मैपद सम्बन्धी तथा आत्मनेपद सम्बन्धी। तिपादि ९ परस्मैपद सम्बन्धी विभक्तियाँ हैं तथा 'त' आदि ९ आत्मनेपदसम्बन्धी। इन विभक्तियों की उत्पत्ति (धारण करने) के कारण योग्य (वाक्य में प्रयोग करने की योग्यता से सम्पन्न वर्णसमुदाय को शब्द कहतें हैं। भेद की दृष्टि से यह

शब्द शास्त्रीय शब्द कहलाता है। इस प्रकार यहाँ 'शास्त्रीय शब्दत्व' लक्ष्यतावच्छेदक है, केवल शब्द नहीं। अर्थात् 'अपद का प्रयोग नहीं करना चाहिये, तथा विभक्त्यन्त को पद कहते हैं' इत्यादि सिद्धान्तों के रहते हुये विभक्तियों के समागम के अनन्तर ही शब्द प्रयोग के योग्य होता है, क्योंकि उनमें विभक्तियों का संयोग होने पर ही अर्थप्रतिपादन की क्षमता आती है। विभक्तिरहित वर्णसमुदाय से अर्थ की प्रतीति नहीं होती। वह विभक्तियुक्त, प्रयोगयोग्य, अर्थप्रतिपादक शब्द शास्त्रीय कहलाता है। तात्पर्य यह कि शब्द प्रथमतः दो प्रकार के होते हैं—अशास्त्रीय तथा शास्त्रीय। इनमें अशास्त्रीय शब्द चाहे जैसा भी हो, किन्तु शास्त्रीय शब्द वही माना जा सकता है, जो विभक्तियुक्त, प्रयोगयोग्य तथा निश्चित अर्थ का प्रतिपादक हो।

पुनः अपने प्रभेदों के साथ यह शास्त्रीय शब्द तीन प्रकार का हो जाता है—रूढ, यौगिक तथा रूढ़ एवं यौगिक। इन दोनों से मिश्रित (रूढयौगिक), अर्थात् शास्त्रीय शब्द के तीन उपभेद होते हैं—१. रूढ़ २. यौगिक तथा ३. रूढयौगिक। उनमें प्रकृति तथा प्रत्यय के अर्थ का विचार किये बिना केवल समुदायशक्ति से अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को रूढ कहते हैं। रूढि प्रसिद्धि को कहते हैं। इस प्रकार प्रसिद्धि के कारण जो शब्द अर्थविशेष का प्रतिपादन करता है, उसे रूढ शब्द कहते हैं। 'योगादागतो यौगिकः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर योग (प्रकृति तथा प्रत्यय के अर्थ का सम्मिश्रण) से अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को यौगिक कहते हैं। रूढ से मिश्रित यौगिक तथा यौगिक से मिश्रित रूढ अर्थात् जो रूढ भी होता है और यौगिक भी, जो प्रकृतिप्रत्यय के अर्थ के विचार विना तथा प्रकृतिप्रत्ययार्थ विचारपूर्वक—दोनों प्रकार से अर्थ का प्रतिपादन करे, उस शब्द को रूढयौगिक शब्द कहते हैं ॥ ९ ॥

अव्यक्तयोग-निर्योग-योगाभासैस्त्रिधादिमः ।
ते च वृक्षादिभूवादिमण्डपाद्या यथाक्रमम् ॥ १० ॥

संस्कृत व्याख्या—तेषु त्रिकारकेषु शब्देषु प्रथमं रूढं प्रतिपादयन्नाह--अव्यक्तेत्यादि। आदिमः शब्दभेदेषु प्रथमः रूढः—अव्यक्तयोगश्च निर्योगश्च योगाभासश्चेति तैः (द्वन्द्व समासः) अव्यक्तयोगः निर्योगः योगाभासश्चेति भेदात् त्रिधा त्रिप्रकारकः। ते अव्यक्तयोगादयो रूढशब्दाः यथाक्रमं क्रमशः वृक्षादयश्च भूवादयश्च मण्डपादयश्चेति वृक्षादिभूवादिमण्डपाद्याः। अर्थात् क्रमशः अव्यक्तयोगरूढशब्दानां वृक्षादयः, निर्योगरूढशब्दानां भूवादयः, योगाभासरूढशब्दानाञ्च मण्डपादयः उदाहरणानि। न व्यक्तः स्पष्टतया प्रतिभासते योगः प्रकृतिप्रत्ययार्थसम्मिश्रणं यस्मिन् सः अव्यक्तयोगः। एवञ्च रूढेऽपि शब्दे प्रकृतिप्रत्ययोः योगो भवत्येव किन्तु स योगस्तत्र व्यक्तो न भवति अपितु प्रसिद्धिवशात् अर्थप्रतिपादनं करोति स शब्दः अव्यक्तयोग इति। अस्योदाहरणानि वृक्षादयः। 'व्रश्चु' छेदने इत्यस्माद्धातोः 'वृश्चति छेदयति आतपम्' इति व्युत्पत्त्या 'क्स्' प्रत्ययेन निष्पन्नो वृक्षशब्दः आतपनिवारणार्थकः। आतपनिवारणार्थकाः अन्येऽपि छत्रादयः शब्दाः सन्ति किन्तु आपतनिवारणे वृक्षस्यैव प्रसिद्धिरस्ति। एवञ्चातपनिवारणे वृक्ष एव रूढः। वृक्षशब्दे सत्यपि प्रकृति-प्रत्ययरूपावयवार्थयोगे प्रसिद्धिवशात् अवयवार्थो व्यक्तो न विभाव्यते अपितु अखण्डेन तेन वृक्षशब्देनाखण्डस्यार्थस्य बोधो जायते।

निर्गतो योगो यस्मात् स निर्योगः अर्थात् तत्र प्रकृति-प्रत्ययरूपावयवार्थयोग एव न भवति स शब्दो निर्योग इति कथ्यते। अस्योदाहरणम्--भूवादय इति। 'भूः' इत्यस्य पृथ्वीत्यः। यद्यपि 'भवतीति भूः' इति व्युत्पत्तौ सत्तार्थक 'भूः' धातोः क्विप्प्रत्ययेन निष्पन्नो भूशब्दः प्रकृतिप्रत्ययरूपावयवार्थयोगसम्पन्नोऽस्ति किन्तु धातुदशायां सत्यपि सत्तारूपेऽर्थे तत्र कश्चिद्योगो नास्त्येवेति निर्योगरूढस्योदाहरणमिदम् एवमेव 'वा' पदमपि धातुदशायां निर्योगरूढ इति।

यत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर्योग आभासते वस्तुतस्तत्रावयवार्थतया बोधो न जायते स शब्द योगाभास रूढ इति। यथा--मण्डपादयः शब्दा। 'मण्डं पिबतीति मण्डपः' इति व्युत्पत्तौ मण्डोपपदात् 'पा' धातोः 'क' प्रत्ययेन निष्पन्नो मण्डपशब्दो मण्डपाती रूपार्थकस्तथापि गृहरूपार्थे रूढ इति आभासितेऽपि प्रकृतिप्रत्यय-

रूपावयवार्थे 'रूढिर्योगापहारिणी' अथवा रूढिर्योगाद् बलीयती' इति सिद्धान्तदिशा न तथार्थबोध इति योगाभासरूढशब्दस्योदाहरणमिदम् ॥१०॥

हिन्दी व्याख्या--इन तीन प्रकार के शब्दों में प्रथम रूढशब्द का प्रतिपादन करते हुये कहा है—'अव्यक्त' इत्यादि। आदिम (शब्दभेदों में प्रथम रूढ) शब्द—अव्यक्तयोग, निर्योग, योगाभास भेद से तीन प्रकार का माना जाता है। इन—अव्यक्तयोग, निर्योग तथा योगाभास, तीनों रूढशब्दों के क्रमशः—वृक्षादि, भूवादि तथा मण्डपादि उदाहरण हैं। अर्थात् अव्यक्तयोगरूढ के उदाहरण हैं—वृक्ष आदि। निर्योगरूढशब्द के उदाहरण हैं--'भू' आदि तथा योगाभास रूढशब्द के उदाहरण हैं—मण्डप आदि। जहाँ प्रकृति-प्रत्ययार्थ का सम्मिश्रण व्यक्त नहीं होता (स्पष्टतः प्रतिभासित नहीं होता) उस शब्द को अव्यक्तयोग शब्द कहते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध है।

रूढ़ शब्दों में भी प्रकृतिप्रत्ययरूप अवयवार्थों का योग होता है किन्तु वह योग वहाँ व्यक्त नहीं होता, अपितु प्रसिद्धि के कारण अर्थ का प्रतिपादन करता है, वह शब्द अव्यक्तयोगरूढ़ शब्द कहलाता है। इसके उदाहरण हैं—वृक्ष आदि। 'व्रश्चु छेदने' इस धातु से 'वृश्चति छेदयति आतपम्' (जो धूप का छेदन करे) इस व्युत्पत्ति में व्रश्चु धातु से 'क्स' प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'वृक्ष' शब्द आतप-निवारण रूप अर्थ का प्रतिपादक है। धूप का निवारण करने वाले अन्य 'छाता' आदि भी हैं किन्तु धूप-निवारण करने रूप अर्थ में वृक्षशब्द की ही प्रसिद्धि है। इस प्रकार धूप-निवारण में 'वृक्ष' शब्द रूढ़ है। 'वृक्ष' शब्द में प्रकृतिप्रत्ययरूप अवयवार्थों के योग के रहने पर भी प्रसिद्धि के कारण अवयवार्थों की व्यक्त रूप में प्रतीति नहीं होती, अपितु अखण्ड शब्द से अखण्ड अर्थ का बोध होता है।

जिस शब्द में प्रकृतिप्रत्यय रूप अवयवार्थों का योग होता ही नहीं, उस शब्द को 'निर्योग' रूढ शब्द कहते हैं। इसके उदाहरण हैं 'भू' 'वा' आदि। 'भू' शब्द का अर्थ है—पृथिवी। 'भवतीति भूः' इस व्युत्पत्ति में सत्तार्थक 'भू' धातु से क्विप् प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न 'भू' शब्द प्रकृतिप्रत्ययरूप अवयवार्थयोग

सम्पन्न है किन्तु धातु की दशा में सत्तारूप अर्थ के रहते हुये भी वहाँ कोई योग नहीं है। इसलिये निर्योग रूढ शब्द का यह उदाहरण हुआ। इसी प्रकार 'वातीति वा'। इस व्युत्पत्ति में 'वा' पद प्रकृतिप्रत्ययनिष्पन्न होता हुआ भी धातु दशा में 'गति' अर्थ को प्रकट करता है, फिर भी प्रत्ययायुक्त न होने के कारण यह भी निर्योगरूढ का उदाहरण है।

जहाँ प्रकृतिप्रत्ययरूपावयवार्थ के योग का आभास मात्र होता है, अवयवार्थ के योग के रूप में अर्थ का बोध नहीं होता, उस शब्द को योगाभास रूढ शब्द कहते हैं। जैसे—मण्डप आदि। 'मण्डं पिबति' (माँड पीता है) इस व्युत्पत्ति में मण्ड उपपद रहते 'पा' धातु से 'क' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न 'मण्डप' शब्द मण्डपायी रूप अर्थ का प्रतिपादक है, तथापि गृह(घर)रूप अर्थ में रूढ है। इस प्रकार प्रकृतिप्रत्ययरूप अवयवार्थों के योग के आभासित होने पर भी 'रूढिर्योगापहारिणी' (रूढि योग का अपहरण कर लेती है।) अथवा 'रूढिर्योगाद् बलीयसी' (रूढि योग से बलवती होती है) इन सिद्धान्तों के आधार पर रूढ अर्थों की ही प्रतीति होती है, यौगिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती। अतः 'मण्डप' शब्द योगाभास रूढ शब्द का उदाहरण हुआ ॥१०॥

यौगिकशब्दं लक्षयति—

शुद्ध-तन्मूल-सम्भिन्न-प्रभेदैर्यौगिकास्त्रिधा ।
ते च भ्रान्ति-स्फुरत्कान्ति-कौन्तेयादिस्वरूपिणः ॥११॥

संस्कृत व्याख्या—काव्यत्वेनाभिमताया वाचः शब्दरूपत्वे शब्दभेदप्रतिपादनावसरे क्रमप्राप्तं द्वितीयं यौगिकं शब्दं लक्षयन्नाह—शुद्धेत्यादि। शुद्धश्च तन्मूलश्च सम्भिन्नश्चेति शुद्धतन्मूलसम्भिन्नाः, त एव प्रभेदास्तैरिति 'शुद्ध-तन्मूल-सम्भिन्न' इति प्रभेदात् यौगिकः शब्दस्त्रिधा त्रिप्रकारकः सम्मतोऽस्ति। ते शुद्धतन्मूलसम्भिन्नाः शब्दाः भ्रान्तिश्च स्फुरत्कान्तिश्च कौन्तेयश्चेति भ्रान्ति-स्फुरत्कान्तिकौन्तेयाः, ते आदयो येषां ते, भ्रान्तिस्फुरत्कान्तिकौन्तेयादयः, स्वरूपाणि येषां सन्तीति ते भ्रान्तिस्फुरत्कान्तिकौन्तेयादिस्वरूपिणः। अयं भावः—

यौगिकः शब्दस्त्रिधा—१. शुद्धः, २. तन्मूलः, ३. सम्भिन्नः इति। भ्रान्तिः स्फुरत्कान्तिः कौन्तेयः इत्यादयस्तेषां क्रमशः उदाहरणानि।

यः प्रकृतिप्रत्ययरूपावयावर्थंयोगादेवार्थंप्रतिपादनं करोति स शब्दः शुद्ध-यौगिक इति। अस्योदाहरणानि—'भ्रान्ति' इत्यादयः। 'भ्रमु गतिभ्रमयोः' इति गत्यर्थकाद् भ्रमार्थकाच्च 'भ्रमु' धातोः 'क्तिन्' प्रत्ययेन भ्रान्तिपदं निष्पन्नं जायते। उभयार्थे सत्यपि केवलं 'भ्रमु' धातोः अर्थबोधो न जायते, अपितु क्तिन्-प्रत्ययानन्तरमेवार्थबोधो भवतीति प्रकृतिप्रत्ययावयवार्थंयोगादेवार्थंप्रतिपादक-त्वादयं शब्दः शुद्धयौगिक इति। सः योगो मूले यस्य स तन्मूलो योगमूलो यौगिकः शब्द इति। अस्योदाहरणम्—'स्फुरत्कान्तिः' इति। दीपनार्थकात् 'स्फुर्'-धातोः वर्तमानकालार्थे क्रियासातत्यद्योतनाय शतृ प्रत्यये सति 'स्फुरत्' पदं निष्पन्नं जायते। कान्तिश्च 'कम्' धातोः क्तिन् प्रत्ययेन निष्पन्नो भवति। एवञ्चात्र कान्तिशब्दः शुद्धयौगिकः, एवमेव स्फुरच्छब्दोऽपि शुद्धयौगिक एव, किन्तु 'स्फुरत्' इति यौगिकः शब्दो मूले यस्य स 'स्फुरत्कान्तिः' इति शब्दो योगमूल-यौगिक इति कथ्यते। योगमूलयौगिकशब्दत्वस्य नियामको द्वयोर्यौगिकयोः शब्दयोः समास एव भवतीति रहस्यं ज्ञेयम्। सम्भिन्नो रूढ्या सम्मिश्रितो यौगिकः शब्दः सम्भिन्नयौगिकः शब्द इति कथ्यते। यथा—कौन्तेयः। कुन्तिनामकः कश्चिद्राजा, तस्यापत्यं स्त्रीति विग्रहे कुन्तिशब्दात् क्यङ्प्रत्ययः, तस्य च सर्वा-पहारी लोपो जायते। पुनश्च स्त्रीत्वविवक्षायां जायमानात् 'ङीप्' प्रत्ययात् निष्पन्नः कुन्तीशब्दः शुद्धयौगिकः। पुनश्च 'कुन्त्या अपत्यं पुमान्' इति विग्रहे कुन्तीशब्दात् ढक्प्रत्ययेन निष्पन्नः कौन्तेयशब्दः व्युत्पत्तिदिशा युधिष्ठिरादि-कुन्तीपुत्रार्थवाचकोऽपि 'अर्जुन'-रूपार्थे रूढ इति रूढ्या सम्भिन्नोऽयं यौगिकः शब्दः ॥११॥

हिन्दी व्याख्या—काव्य रूप में अभिमत 'वाक्' को शब्दरूप मानने पर शब्दभेदप्रतिपादन के अवसर में क्रमशः प्राप्त (द्वितीय) यौगिक शब्द का स्वरूप बतलाते हुये कहा है—शुद्ध इत्यादि। 'शुद्धतन्मूलसम्भिन्नाः' में द्वन्द्व-समास है—इस प्रकार शुद्ध, तन्मूल तथा सम्भिन्न भेद से यौगिक शब्द तीन प्रकार

का होता है। भ्रान्ति, स्फुरत्कान्ति तथा कौन्तेय आदि क्रमशः उनके उदाहरण है। अर्थात् शुद्धयौगिक शब्द का उदाहरण है—भ्रान्ति, तन्मूलयौगिक का उदाहरण है—स्फुरत्कान्ति तथा सम्भिन्न यौगिक शब्द का उदाहरण है—कौन्तेय।

जो शब्द प्रकृतिप्रत्ययरूप अवयवार्थों के योग से ही अर्थ का प्रतिपादन करता है, उसे शुद्धयौगिक शब्द कहते हैं। जैसे—भ्रान्ति। गत्यर्थक तथा भ्रमार्थक 'भ्रमु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'भ्रान्ति' शब्द निष्पन्न होता है। दो-दो अर्थों के रहते हुये भी केवल 'भ्रमु' धातु मात्र से अर्थ का बोध नहीं हो सकता, अपितु 'क्तिन्' प्रत्यय होने के बाद ही अर्थबोध होता है। इस प्रकार 'भ्रान्ति' शब्द प्रकृति तथा प्रत्यय—दोनों अवयवों के योग से ही अर्थ की प्रतीति करता है, अतः यह शब्द शुद्धयौगिक का उदाहरण हुआ। योग जिसके मूल में हो, ऐसे शब्द को तन्मूल यौगिक शब्द कहते हैं। जैसे—स्फुरत्कान्तिः। दीपनार्थक 'स्फुर्' धातु से वर्तमान काल के अर्थ में क्रिया का सातत्य द्योतित करने के लिये 'शतृ' प्रत्यय करने पर 'स्फुरत्' पद निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'कान्ति' शब्द भी 'कमु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। यहाँ 'कान्ति' शब्द तथा 'स्फुरत्' शब्द शुद्धयौगिक हैं। शुद्धयौगिक 'स्फुरत्' शब्द शुद्धयौगिक 'कान्ति' शब्द के मूल हैं, अतः यह 'स्फुरत्कान्ति' शब्द तन्मूल यौगिक शब्द का उदाहरण हुआ। इस प्रकार तन्मूल यौगिक शब्द का आधार दो शुद्ध यौगिक शब्दों का समास है—यह रहस्य जानना चाहिये। सम्भिन्न अर्थात् रूढि से मिश्रित शब्द को सम्भिन्न यौगिक शब्द कहते हैं। इसका उदाहरण है—कौन्तेय। 'कुन्ति' नाम का कोई राजा है। 'तस्यापत्यं स्त्री' इस विग्रह में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है तथा उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है, इसके बाद ङीप् प्रत्यय होकर 'कुन्ती' शब्द निष्पन्न होता है। यह 'कुन्ती' शब्द शुद्ध यौगिक है। पुन 'कुन्त्या अपत्यं पुमान्' इस विग्रह में 'कुन्ती' शब्द से 'ढक्' प्रत्यय होकर निष्पन्न 'कौन्तेय' शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर युधिष्ठिर आदि कुन्तीपुत्र रूप अर्थ का वाचक होता हुआ भी रूढ़ि के द्वारा केवल 'अर्जुन' अर्थ बोध कराता है। इस प्रकार यह रूढ़ि से सम्भिन्न (मिश्रित शब्द हुआ ॥११॥

योगरूढशब्दं लक्षयति—

तन्मिश्रोऽन्योऽन्यसामान्यविशेषपरिवर्तनात् ।
नीरधिः पङ्कजं सौधं सागरः भूरुहः शशी ॥१२॥
क्षीरनीरधिराकाशपङ्कजं तेन सिद्धयति ।

संस्कृत व्याख्या—तत्र प्रस्तावसरतया सम्प्रति तृतीयं योगरूढशब्दं लक्षयन्नाह—तेन योगेन मिश्रः संयुक्तो रूढो योगरूढनामकस्तृतीयः शब्दभेदः अन्योऽन्यं परस्परं सामान्यं च विशेषश्चेति सामान्यविशेषौ, तयोः सामान्यविशेषयोः, परिवर्तनात् सामान्यस्य विशेषार्थे विशेषस्य च सामान्यार्थे परिवर्तनात् अपररूपग्रहणात् त्रिविध इति भावः । एवञ्च सामान्यार्थस्य विशेषे परिवर्तनादेकः, विशेषार्थस्य सामान्ये परिवर्तनादपरः, सामान्यविशेषरूपोभयार्थे परिवर्तनात्तृतीयः इति ।

तत्र प्रथमस्य (सामान्यस्य) विशेषरूपयोगरूढस्योदाहरणानि—नीरधिः, पङ्कजम्, सौधम्, सागरः, भूरुहः, शशीत्यादीनि । नीरधिः नीराणि जलानि धारयतीत्यर्थे नीरोपपदात् धारणार्थक-'डुधाञ्'-धातोः निष्पन्नं नीरधिपदं जलसमूहरूपार्थकात् कूपनदीसरोरूपाद्यर्थप्रतिपादकमिति व्युत्पत्तिबलात्सिद्धं कूपनदीसरोरूपादि सामान्यमर्थं परित्यज्य रूढिबलात्समुद्ररूपविशेषार्थस्य वाचकमिति सामान्यस्य विशेषरूपाश्रयणात् विशेषरूपयोगरूढस्योदाहरणमिदम् । एवमेव पङ्के जातमिति व्युत्पत्त्या शैवाल-मत्स्यादिरूपं सामान्यार्थं विहाय पङ्कजपदं कमलरूपविशेषार्थे रूढम्, सौधपदञ्च सुधाया इदमिति व्युत्पत्त्या सुधालिप्तं भवनरूपं सामान्यमर्थं विहाय राजभवनरूपे विशेषार्थे परिवर्तितः सन् रूढ्या राजप्रासादरूपमर्थं बोधयति, 'सगरस्यापत्यं पुमान्' इति विग्रहे निष्पन्नः सागरशब्दोऽपि सामान्येन सगरनामकस्य राज्ञः पुत्ररूपार्थवाचकः, तथापि समुद्ररूपं विशेषार्थमाश्रयति, भूरुहपदमपि पृथिव्यां जायमानानामनेकेषामर्थानां व्युत्पत्तिदिशा बोधं कारयितुं सक्षममपि वृक्षरूप विशेषार्थे रूढम्, एवमेव शशोऽस्यास्तीति व्युत्पत्त्या लक्ष्यविशेषलक्षितपुरुषाद्यनेकार्थवाचकोऽपि चन्द्ररूपविशेषार्थे रूढ इति नीरधि-पङ्कज-सौध-सागर-भूरुह-शशीत्यादीनि विशेषरूपयोगरूढशब्दस्योदाहरणानि ।

विशेषस्य सामान्यरूपेऽर्थे परिवर्तनात् सामान्यरूपयोगरूढशब्दस्योदाहरणं यथा--आकाशपङ्कजमिति। अत्र पङ्कजपदं व्युत्पत्त्या मत्स्यशैवालाद्यनेकार्थबोधकमपि कमलरूपेऽर्थे रूढतया कमलरूपविशेषार्थप्रतिपादकम्, किन्तु आकाशपङ्कजमिति समासदशायां कमलरूपविशेषार्थं परित्यज्य 'आकाशस्य पङ्के जातमि' ति व्युत्पत्तिदिशा सामान्यमर्थं प्रतिपादयदेव चन्द्ररूपमर्थमुपस्थापयति। ननु पङ्को भूधर्मः। स च भुव्येव सम्भवः। आकाशे तदसम्भवात् कथमाकाशपङ्कजमित्यत्र पङ्कजनिसामान्यार्थस्य बोध इति चेन्न, आकाशपदस्य आकाशगङ्गायां लक्षणास्वीकारात्। सामान्यविशेषरूपोभययोगरूढस्योदाहरणं यथा--क्षीरनीरधिः आकाशपङ्कजमित्यादि। निरधिरित्यस्य व्युत्पत्तिदिशा कूपजलाशादयः सामान्यार्थाः सागरो रूढतया विशेषोऽर्थः, किन्तु क्षीरेण समासे सति क्षीरस्य नीरधिरिति स्थितौ नीरधिपदस्य सामान्यार्थबोधे क्षीरपदस्य वैयर्थ्यापत्तिरिति नियमेन सागररूपविशेषार्थस्यैव बोधो जायते। एवञ्च नीरधिपदस्य कूपजलाशयादिसामान्यार्थबोधकत्वम्, समुद्ररूपविशेषार्थबोधकत्वञ्चोभयमपि सिद्ध्यतीति उभयरूपयोगरूढस्योदाहरणमिदम्। एवमेव पङ्कजपदमपि सामान्यविशेषोभयरूपार्थप्रतिपादकत्वात् उभयरूपयोगरूढस्योदाहरणं जायते।

ननु सम्भिन्नयौगिक-प्रथमयोगरूढशब्दयोर्को भेदः ? इत्युच्यते—सम्भिन्नयौगिके शब्दे शब्दः प्रथमं यौगिक आसीत् पश्चाच्च पुनस्तद्विकारे सति रूढ इति रूढेन सम्भिन्नो यौगिकः कथ्यते। न तथा प्रथमः सामान्यमर्थं विहाय विशेषरूपार्थप्रतिपादको योगरूढशब्दः। तत्र सत्यपि यौगिके रूढे चार्थे रूढिरूपविशेषार्थेनैव व्यवहार इति। नन्वेवं सति मण्डपादीनां रूढशब्दानां पङ्कजादीनां योगरूढानाञ्चैक्यमापतितमिति चेन्न—मण्डपादीनां सर्वदा रूढ्यैव व्यवहारः पङ्कजादीनान्तूभयथेति भेदस्य सिद्धेः॥१२॥

हिन्दी व्याख्या—अवसर पाकर अब योगरूढनामक तृतीय शब्द के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये कहा है—'तन्मिश्र' इत्यादि। योग से मिश्रित (संयुक्त) रूढ, योगरूढ नामक शब्द का तीसरा भेद परस्पर में सामान्य तथा विशेष के परिवर्तन से तीन प्रकार का माना गया है—१. सामान्य अर्थ का विशेष अर्थ

में परिवर्तित होना। २. विशेष अर्थ का सामान्य अर्थ में परिवर्तित होना और ३. सामान्यविशेषरूप उभय अर्थों में परिवर्तित होना।

इन तीनों भेदों में सामान्य अर्थ का विशेष अर्थ में परिवर्तित होने रूप प्रथम भेद के उदाहरण हैं—नीरधिः, पङ्कजम्, सौधम्, सागरः, भूरुहः, शशी इत्यादि। 'नीराणि धारयति' इस व्युत्पत्ति में 'नीर' उपपद रहते, धारणार्थक 'डुधाञ्' धातु से 'इत्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न नीरधि शब्द जलसमूहार्थक होने के कारण व्युत्पत्ति के आधार पर कूप, नदी, सरोवर आदि अर्थों का प्रतिपादक है, किन्तु रूढिबलात् कूप, नदी, सरोवर रूप सामान्य अर्थ को छोड़कर समुद्र रूप विशेष अर्थ का वाचक बन जाता है। इसी प्रकार 'पङ्के जातम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर पङ्कजपद मत्स्य, शैवाल आदि सामान्य अर्थों का वाचक होता हुआ भी कमलरूप विशेष अर्थ में रूढ है। सौध, सागर, भूरुह तथा शशी शब्द भी 'सुधाया इदम्' 'सगरस्य अपत्यं पुमान्' 'भुवि रूढः' तथा 'शशोऽस्यास्मिन्नस्ति' इत्यादि व्युत्पत्तियों के द्वारा सुधा (चूना) लिप्त भवन सगरपुत्र पृथिवी पर उत्पन्न अनेक लता, वृक्ष आदि वस्तु तथा चिह्न विशेष से लक्षित पुरुष आदि अनेक अर्थों, के वाचक होते हुए भी अपने इन सामान्य अर्थों को छोड़कर रूढि के बल से क्रमशः—राजभवन, समुद्र, वृक्ष तथा चन्द्रमा रूप विशेष अर्थ में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार इन्हें पहले प्रकार के योगरूढ का उदाहरण माना जाता है।

विशेष अर्थ के सामान्य अर्थ में परिवर्तित होने रूप द्वितीय योगरूढ शब्द का उदाहरण है—'आकाशपङ्कजम्'। यहाँ 'पङ्कज' पद व्युत्पत्ति के द्वारा मत्स्य, शैवाल आदि अनेक अर्थों का बोधक होता हुआ भी 'कमल' अर्थ में रूढ होने के कारण कमल रूप विशेष अर्थ का प्रतिपादक है, किन्तु आकाश के साथ इसका समास कर देने पर आकाशपङ्कजपद कमलरूप विशेष अर्थ को छोड़कर 'आकाशस्य पङ्के जातम्' इस व्युत्पत्ति के द्वारा सामान्य अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ चन्द्ररूप अर्थ को उपस्थित करता है।

शङ्का—पङ्क (कीचड़) पृथिवी का धर्म है। वह पृथिवी पर ही हो सकता है। आकाश में कीचड़ नहीं हो सकता। इस प्रकार आकाश में पङ्क-

जनिकर्तृकत्व असम्भव होने के कारण 'आकाशस्य पङ्के जातम्' यह व्युत्पत्ति तथा इससे 'पङ्क में उत्पन्न' इस सामान्य अर्थ की प्रतिपादकता कैसे सिद्ध होगी ?

समाधान—यहाँ आकाश पद की आकाशगङ्गा में लक्षणा की जाती है। इस प्रकार गङ्गा के जो-जो धर्म हैं, उन सभी धर्मों को आकाश में प्रतिष्ठापित किया जाता है। गङ्गा में कीचड़ होता है अतः आकाश में भी कीचड़ मान लिया जाता है तथा आकाश में पङ्कजनिकर्तृत्व की सिद्धि हो जाती है।

सामान्यविशेषरूप उभय अर्थों में परिवर्तित होने रूप तृतीय योगरूढ शब्द के उदाहरण हैं—'क्षीरनीरधि' तथा 'आकाशपङ्कज' इत्यादि। नीरधिपद व्युत्पत्ति के द्वारा कूपजलाशय आदि सामान्य अर्थ तथा रूढि के द्वारा सागर रूप विशेष अर्थ का प्रतिपादक है, किन्तु क्षीरपद के समास हो जाने पर 'क्षीर की नीरधि' इस स्थिति में नीरधि से सामान्य अर्थ के बोध होने पर क्षीरपद व्यर्थ हो जाता है। अतः नियम से सागर रूप विशेष अर्थ का ही बोध होगा। इस प्रकार नीरधिपद कूपजलाशय आदि सामान्य अर्थ एवं समुद्ररूप विशेष अर्थ दोनों का बोधक होने के कारण उभयरूप योगरूढ का उदाहरण होगा। इसी प्रकार पङ्कजपद भी सामान्य एवं विशेष दोनों अर्थों का प्रतिपादक होने के कारण उभयरूप योगरूढ शब्द का उदाहरण बनता है।

शङ्का—सम्भिन्न यौगिक शब्द तथा प्रथम योगरूढ शब्दों में क्या भेद है ? क्योंकि सम्भिन्न यौगिक शब्दों में यौगिक शब्द रूढि से मिश्रित होता है तथा प्रथम प्रकार के योगरूढ शब्द भी व्युत्पत्ति के आधार पर योग एवं रूढि के द्वारा रूढ अर्थ का भी प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार दोनों शब्दों में समानता की प्रतीति होती है, दोनों में भेद कैसे होगा ?

समाधान—सम्भिन्न यौगिक शब्द पहले यौगिक रहता है, पुनः प्रत्यय-विशेष के द्वारा विकार को प्राप्त हो, वही शब्द रूढ हो, जाता है। अतः उसे रूढ से मिश्रित सम्भिन्न यौगिक कहते हैं। सामान्य अर्थ को छोड़कर विशेष अर्थ का प्रतिपादन करने वाला प्रथम योगरूढ शब्द वैसा नहीं है। यहाँ एक

रूप में ही रहने वाला शब्द यौगिक एवं रूढ—दोनों अर्थों का प्रतिपादन करता है, किन्तु उनमें से रूढरूप विशेष अर्थ से ही व्यवहार होता है।

शङ्का—इस प्रकार 'मण्डप' आदि रूढ शब्द एवं 'पङ्कज' आदि योगरूढ शब्दों में ऐक्य की आपत्ति आती है। इन दोनों का भेद कैसे होगा ?

समाधान—'मण्डप' आदि रूढ शब्दों में सर्वदा रूढि के द्वारा ही व्यवहार होता है किन्तु 'पङ्कज' आदि का उभयथा व्यवहार होता है—यही इन दोनों में भेद है ॥१२॥

पदं वाक्यं च लक्षयति—

विभक्त्यन्तं पदं वाक्यं तद्व्यूहोऽर्थसमाप्तितः ॥१३॥

संस्कृत व्याख्या—शब्दत्वेन लक्षयित्वा पदवाक्यादिरूपेण वाचं लक्षयन्नाह—'विभक्त्यन्तमि'त्यादि। तत्र प्रथमं पदं प्रतिपादयति--विभक्त्यन्तमिति। पदमिति लक्ष्यम्, विभक्त्यन्तमिति लक्षणम्। 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति पाणिनिसूत्रदिशा बिभक्तयः सुपादयः तिङादयश्चेति। एवञ्च यत् सुबन्तं तत् पदम्, यच्च तिङन्तं तदपि पदम्। अतएव 'रामो गच्छति' इत्यत्र सुबन्तत्वाद् रामः पदम्, तिङन्तत्वात् 'गच्छति' इत्यपि पदम्।

वाक्यं लक्षयति—तद्व्यूहेत्यादि। तेषां पदानां व्यूहः समूहः, अर्थसमाप्तितो निराकाङ्क्षरूपो वाक्यमिति। निराकाङ्क्षः पदसमूहो वाक्यमिति सुस्पष्टम्। साकाङ्क्षे वाक्यार्थसमाप्तिरूपे 'गौरश्वः, पुरुषो हस्ती' इत्यादावतिव्याप्तिवारणायार्थसमाप्तित इति विशेषणम्। यथोक्तं दर्पणे—'वाक्यं स्याद् योग्यताऽऽकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः'। इति ॥१३॥

हिन्दी व्याख्या— शब्दरूप में वाक् का प्रतिपादन करके पद एवं वाक्य आदि के रूप में 'वाक्' का प्रतिपादन करते हुये कहा है--'विभक्त्यन्तम्' इत्यादि। उनमें पहले 'पद' का प्रतिपादन किया है 'विभक्त्यन्तम्' इत्यादि। पद लक्ष्य तथा 'विभक्त्यन्तम्' लक्षण है। इस प्रकार विभक्ति जिसके अन्त में

हो, उसे पद कहते हैं--यह निष्कर्ष प्राप्त होता है। पाणिनि के 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र के अनुसार विभक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं--'सुप्' आदि तथा 'तिङ्' आदि। सुपादि कारकरूप हैं तथा तिङादि धातुरूप। अतएव 'रामः गच्छति' इसमें सुप् विभक्ति के कारण 'रामः' पद है तथा तिप् विभक्ति के कारण गच्छति भी पद है।

वाक्य का लक्षण करते हुए कहा है—'तद्व्यूह' इत्यादि। अर्थसमाप्तितः अर्थात् आकाङ्क्षा को शान्त कर देने वाले निराकाङ्क्ष पदसमूह को वाक्य कहते हैं। असमाप्तवाक्यार्थ (साकाङ्क्ष) गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि में अतिव्याप्ति वारण के लिये 'अर्थसमाप्तितः' यह विशेषण लगा दिया है। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा है--'वाक्यं स्याद्योग्यताऽऽकाङ्क्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः।' इत्यादि ॥१३॥

वाक्यभेदं प्रतिपादयति—

युक्तार्थानां तां च विना खण्डवाक्यं स इष्यते।
वाक्यं च खण्डवाक्यं च पदमेकमपि क्वचित् ॥१४॥
धूमवत्त्वादिति यथा देवेत्यामन्त्रणं यथा।

संस्कृत व्याख्या--वाक्यभेदम्प्रतिपादयन् कथयति--युक्तार्थानामिति। युक्तोऽर्थो येषां ते युक्तार्थास्तेषां युक्तार्थानामर्थसम्पन्नानां तां विना अर्थसमाप्तिं विना स इति पदानां व्यूहः। एवञ्च विभक्त्यन्तत्वादर्थयुक्तानामपि पदानामर्थसमाप्तिं विना वाक्यत्वं न जायते, अपितु खण्डवाक्यत्वमेव इष्यते अभीष्ट इति। यथा—गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यादयः। अत्र गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती इत्यादयः सर्वेऽपि विभक्त्यन्तत्वादर्थप्रतिपादका अर्थयुक्ताः सन्ति किन्तु किं गौः, अश्वः, पुरुषः हस्ती वेति जिज्ञासाया उत्थितत्वात् अर्थसमाप्तेरभाव इति नैतेषां वाक्यत्वम्, अपितु खण्डवाक्यत्वमेव। प्रातिपदिकव्यवच्छेदाय युक्तार्थानामिति।

क्वचित्त्वेकमपि पदवाक्यं खण्डवाक्यञ्चापि जायते। यथा—धूमवत्त्वादिति, यथा देव! इत्यामन्त्रणम् धूमवत्त्वादित्येकमपि पदं वाक्यस्योदाहरणं जायते, किन्तु

देव ! इति सम्बोधनात्मकमामन्त्रणपदं खण्डवाक्यम् । धूमवत्त्वादित्यत्र धूमोऽस्या-स्तीति धूमशब्दान्मतुप्, ततश्च भावार्थे त्व-प्रत्ययस्तस्मादिति हेतौ पञ्चमी' । एवञ्चात्र परस्परसम्बद्धानामनेकार्थानां प्रतीतिर्जायते हेत्वाकाङ्क्षाया निवर्तकतया जिज्ञासायाः शान्तिश्चापीति वाक्यत्वमस्याव्याहतम् । देव ! इति सम्बोधने प्रथमान्तमिति क्रियासाकाङ्क्षः । अतो नात्रार्थसमाप्तिरिति खण्डवाक्यम् ॥१४॥

हिन्दी व्याख्या--वाक्य के भेद का प्रतिपादन करते हुये कहा है—युक्तार्थानामित्यादि । 'युक्तोऽर्थो येषां ते तेषाम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार युक्तार्थ का तात्पर्य है—अर्थसम्पन्न । अर्थसमाप्ति के बिना अर्थसम्पन्न भी पदसमूह खण्ड-वाक्य कहलाता है । अर्थात् पदसमूहता, अर्थसम्पन्नता के रहते हुये भी हम पदसमूह को तबतक वाक्य नहीं कह सकते, जब तक उसमें जिज्ञासाशान्तिरूप अर्थसमाप्ति न हो । ऐसे पदसमूह को खण्डवाक्य कहा जाता है । जैसे—'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि । इनमें प्रत्येक पद विभक्त्यन्त होने के कारण अर्थसम्पन्न है, तथापि क्या गौ ? क्या अश्व ? इत्यादिरूप में श्रोता के जिज्ञासा की शान्ति नहीं कर सकता । अतः यह पदसमूह वाक्य नहीं अपितु खण्डवाक्य कहलायेगा । खण्डवाक्य के इस लक्षण में प्रातिपदिक का व्यवच्छेद करने के लिये 'युक्तार्थानाम्' का प्रयोग किया गया है ।

कहीं-कहीं एक ही पद वाक्य बन जाता है तथा एक ही पद खण्डवाक्य । जैसे--धूमवत्त्वात् तथा देव ! । धूमवत्त्वात् यह एक ही पद वाक्य का उदाहरण है तथा 'देव' यह सम्बोधनात्मक आमन्त्रण पद खण्डवाक्य का उदाहरण है । 'धूमोऽस्यास्तीति' विग्रह में धूमशब्द से मतुप् प्रत्यय तथा उसके बाद भाव अर्थ में त्वप्रत्यय होने पर धूमवत्त्व शब्द बनता है । उससे हेतुमें पञ्चमी विभक्ति है । अतः परस्परसम्बद्ध अनेक अर्थों की प्रतीति इस पद से होती है तथा हेत्वाकाङ्क्षारूप जिज्ञासा की शान्ति भी होती है । इस प्रकार यह वाक्य का उदाहरण बन जाता है । देव ! में सम्बोधन है, प्रथमा विभक्ति है, अतः क्रिया साकाङ्क्ष है, इस प्रकार अर्थसमाप्ति अर्थात् निराकाङ्क्षत्व की प्रतीति न होने के कारण यह खण्डवाक्य का उदाहरण हुआ ॥१४॥

महावाक्यं लक्षयति--

वाक्यान्येकार्थविश्रान्ताण्याहुर्वाक्यकदम्बकम् ॥१५॥

संस्कृत व्याख्या--महावाक्यं लक्षयति--वाक्यानीति। एको निश्चितश्चासावर्थस्तस्मिन् विश्रान्तानि पर्यवसितानि निश्चितार्थप्रतिपादकानीति भावः, वाक्यानीत्यत्र बहुवचनेन समूहो लक्षितः, तेन निश्चितार्थप्रतिपादको वाक्यसमूहो वाक्यकदम्बकम्, वाक्यसमूहत्वेन महावाक्यमिति। एवञ्च वाक्यलक्षणानुसारं निश्चितार्थप्रतिपादकत्वं निराकाङ्क्षत्वञ्चेत्युभयमत्राप्यभीष्टम्। वाक्यकदम्बकं महावाक्यं यथा--रामायणं महाभारतादि काव्यमिति भावः ॥१५॥

हिन्दी व्याख्या--महावाक्य का स्वरूप बतलाते हुये कहा है 'वाक्यानि' इत्यादि। एक निश्चित अर्थ में विश्रान्त (पर्यवसित) वाक्यसमूह वाक्यकदम्ब या महावाक्य कहलाता है। वाक्यानि में बहुवचन का प्रयोग समूह को द्योतित करने के लिये किया गया है। वाक्य के लक्षण के अनुसार यहाँ भी निश्चितार्थप्रतिपादकता तथा निराकाङ्क्षत्व दोनों अभीष्ट हैं। वाक्यकदम्ब या महावाक्य के उदाहरण हैं काव्य, जैसे--रामायण, महाभारत, रघुवंश इत्यादि ॥१५॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
अनेनाऽसावाद्यः सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥१६॥

॥ इति श्रीजयदेवविरचिते चन्द्रालोके वाग्विचारो नाम प्रथमो मयूखः ॥

संस्कृत व्याख्या--सत्रं बहुदिवससाध्यः क्रतुविशेष एव प्रमुखं प्रधानं येषां ते, सत्रप्रमुखाश्च ते मखाः यज्ञाः, तेषां या विद्या कर्मकाण्डनिपुणता तत्र एकश्चासौ चतुरो निपुणः परमकुशल इति महादेवस्तन्नामको विद्वान् तथा च तस्य महादेवस्य भक्तौ समाराधने सेवाशुश्रूषायामिति भावः प्रणिहिता संलग्ना मतिः बुद्धिः, यस्याः सा सर्वथा पतिपरायणा सुमित्रा तन्नाम्नी महादेवपत्नी च

यस्य पितरौ माता च पिता चेति जननीजनकाविति, अनेन महादेवसुमित्रासुतेन सुकविः महाकविश्चासौ जयदेवस्तेन जयदेवनामकेन आलोचकेन कविना रचिते कृतनिर्माणे चन्द्रालोके तन्नामके काव्यशास्त्रग्रन्थे असौ सम्मुखमुपस्थितः आद्यः प्रथमः काव्यस्वरूप-शब्द-पद-वाक्यमहावाक्यादि प्रतिपादको मयूखः किरणः विभाजनप्रकारः सुमनसः सहृदयान् चिरं चिरकालं यावत् निरन्तरमिति भावः, सुखयतु रञ्जयतु ।

इति श्रीजयदेवविरचिते चन्द्रालोके वाग्विचारो नाम
प्रथमो मयूखः समाप्तः ॥१६॥

हिन्दी व्याख्या—सत्र (बहुत दिनों तक चलने वाला यज्ञ विशेष) ही है प्रमुख जिसमें ऐसे यज्ञों की विद्या में परमकुशल, पण्डित महादेव तथा उनकी भक्ति में (सेवा शुश्रूषा में) ही निरन्तर दत्तचित्त सुमित्रा, जिसके माता-पिता हैं, इस सुकवि जयदेव के द्वारा विरचित चन्द्रालोक (नामक ग्रन्थ) में यह प्रथम मयूख सहृदयों को चिरकाल तक (निरन्तर) आनन्दित करता रहे ।

श्रीजयदेव के द्वारा विरचित चन्द्रालोक में वाग्विचार नामक
यह प्रथम मयूख समाप्त हुआ ॥१६॥

●

द्वितीयो मयूखः

अथ दोषाः

स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ॥१॥

संस्कृत व्याख्या——अथ प्रथमे मयूखे काव्यलक्षणस्य तत्रस्थस्य विशेष्यस्य च वाचो निरूपणं कृत्वा विशेषणे निरूप्यमाणे प्रथमं दोषं निरूपयति——अथ दोषा इति। 'दुष्यति विकृतं भवत्यनेन' इति व्युत्पत्तौ 'दुष्'धातोः करणे 'घञ्' प्रत्ययेन निष्पन्नो दोषः काव्ये विकारप्रतिपादकः यथा लोके अन्धत्व-काणत्वादयो दोषाः शरीरे तदङ्गविकारप्रतिपादकास्तथैव काव्येऽपि येन केनापि प्रकारेण शब्देऽर्थे रसे च ये विकारमुपस्थापयन्ति ते दोषा इति कथ्यन्ते। अतएव चन्द्रालोककारेण दोषस्वरूपमुक्तम्——स्यादिति।

वचेतो हृदयस्तत्र वशिता प्रविशता श्रुतमात्रतो हृदयप्रवेशसमनन्तरमे-येन तत्त्वेन रमणीयता काव्यगता सहृदयहृदयाह्लादिता, सक्षता क्षतेन विनाशेन सहितेति विनष्टा जायते, श्रवण-हृदयलग्नसमकालमेव यः सहृदयहृदयमुद्वेजयति, शब्दे अर्थे च (वाचः काव्यत्वे, वाचश्च शब्दार्थरूपत्वात्) काव्यस्वरूपत्वेना-भिमतयोः शब्दार्थयोः कृतो विहित उन्मेषः स्फुरणं येन सः तं शब्दार्थयो-र्वर्तमानमिति तमेवम्भूतं तत्त्वं काव्यभावनापरिपक्वहृदयाः सहृदयाः दोषमिति दोषत्वेनोद्घोषयन्ति प्रतिपादयन्ति। एवञ्च सहृदयहृदयप्रवेशसमकालमेव शब्दार्थ-स्वरूप-काव्यनिष्ठचमत्कारविनाशको दोष इति दोषस्वरूपं स्पष्टम् ॥१॥

हिन्दी व्याख्या——प्रथम मयूख में काव्यलक्षण तथा उसके विशेष्य, (वाचः) शब्दार्थ में से शब्द का निरूपण करने के बाद विशेषणों का निरूपण करना प्रकरण-प्राप्त होने पर उनमें से प्रथम विशेषण, (निर्दोषा) दोष का निरूपण करते हुये कहा है——'अथ दोषा इति।' 'दुष्यति विकृतं भवत्यनेन' इस व्युत्पत्ति

में 'दुष्' धातु से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न दोष (शब्द) काव्य में विकार का प्रतिपादक है। जिस प्रकार लोक में अन्धत्व काणत्व आदि दोष शरीर में अङ्गविकार के प्रतिपादक हैं, उसी प्रकार काव्य में भी जिस किसी भी प्रकार से शब्द, अर्थ तथा रस में जो विकार उपस्थापित करने वाले हैं, वे दोष कहलाते हैं। इसीलिये चन्द्रालोककार ने भी दोष के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये कहा है—'स्यादिति'।

हृदय में प्रवेश करते ही जिसके द्वारा (काव्यगत) रमणीयता विनष्ट हो जाती है, शब्द तथा अर्थ में उन्मेष को प्राप्त करने वाले उस (तत्त्व) को (काव्यशास्त्री) दोष कहते हैं। दोष के इस लक्षण में तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१. हृदय में प्रवेश करते ही—

२. रमणीयता को नष्ट करना—

३. शब्द में, अर्थ में तथा चकार से रस में भी उन्मेष को प्राप्त करना—

ये दोषगत तत्त्व हैं। हृदय से यहाँ तात्पर्य है सहृदयों का हृदय। सहृदय से—काव्यभावनापरिपक्व हृदय अभीष्ट है। अर्थात् काव्य की भावना (पुनः-पुनः अर्थानुसंधान) करने से जिनका हृदय (इदं काव्यं सत्) 'यह काव्य अच्छा है' (इदं काव्यमसद्) 'यह काव्य अच्छा नहीं है'—यह विचार करने में दृढ़ हो गया है उसे सहृदय कहते हैं। उसके हृदय में प्रवेश करते ही (तत्क्षण ही) जो काव्यगत रमणीयता (चमत्कार) सहृदयहृदयाह्लादकता को नष्ट कर दे, प्रपाणक रस में किर-किटी के समान उद्वेजकता का आधान कर दे, उसे दोष कहते हैं। इस दोष का आश्रय कहीं शब्द, कहीं अर्थ, कहीं रस होता है।

तात्पर्य यह है कि शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर(अवयव)भूत हैं तथा रस उस शब्दार्थ (शरीर) में रहने वाला आत्मस्थानी है। जिस प्रकार हाथ, पैर, नाक, कान आदि अवयवों से युक्त शरीर के अन्दर मुख्य तत्त्व के रूप में आत्मा की कल्पना दार्शनिकों ने किया है, उसी प्रकार शब्दार्थ शरीरककाव्य

में रस को मुख्य तत्त्व के रूप में माना गया है। लोक में अन्धत्व, काणत्व आदि दोष आँख, कान आदि तत्तत् अङ्गों में विकारता का प्रतिपादन करते हुये 'मैं अन्धा हूँ, काना हूँ' इत्यादि भावनाओं को भी जागृत करते हुये आत्मा में न्यूनता का, हीनता का प्रतिपादन करते हैं, उसी प्रकार काव्यदोष कहीं शब्द-निष्ठ होकर शब्दगत चमत्कार को नष्ट करता हुआ तथा कहीं अर्थनिष्ठ होकर अर्थगत चमत्कार को नष्ट करता हुआ काव्य के आत्मा रस का विनाश करते हैं। अतः शब्द, अर्थ तथा रस—ये तीनों दोष के आश्रय होते हैं।

शब्द, अर्थ अथवा रस के विनाश का तात्पर्य कहीं तो अप्रतीति है तथा कहीं विलम्ब से प्रतीति मानी जाती है। इस प्रकार ये दोष कहीं तो प्रतीति होने ही नहीं देते तथा कहीं इसकी प्रतीति में विलम्ब उपस्थित करते हैं। यही अप्रतीति या विलम्बेन प्रतीति यहाँ विनाशक (सक्षता) पद से ग्रन्थकार को अभीष्ट है ॥१॥

पददोषान्नाह—

भवेच्छ्रुतिकटुर्वर्णः श्रवणोद्वेजने पटुः।
संविन्दते व्याकरणविरुद्धं च्युतसंस्कृति ॥२॥

संस्कृत व्याख्या—शब्दार्थयोः काव्यत्वे दोषनिरूपणावसरे शब्ददोषाणां प्रथमं प्रतिपाद्यत्वात् शब्दस्य परगतत्वेन वाक्यगतत्वेन चोभयथा प्रतिपादनात् पूर्वं पददोषेषु श्रुतिकटुं लक्षयन्नाह—भवेदिति। श्रवणयोः कर्णयोः उद्वेजनेऽप्रियता-सम्पादने पटुः कुशलो वर्णः श्रुतिकटुनामको दोषो भवेत्। अत्र वर्णेनाक्षरो केवलं नाभिमतः, अपितु वर्णसमूहरूपः शब्दोऽपीति, यत्र श्रुतिकटूनां वर्णानां प्रयोगो जायते तत्र तन्नामक एव दोषो भवति। एवञ्च श्रवणोद्वेजनपटुशब्दत्वं श्रुतिकटु-त्वमिति लक्षणं फलितम्। श्रवणोद्वेजकाश्च वर्णाः सन्ति—वर्गाणामादिवर्णाः 'क च ट त प' इत्यादिभिर्युक्ताः 'ख फ छ ठ थ' इत्यादि द्वितीयवर्णाः, 'ज ब ग ड द' इत्यादिभिस्तृतीयवर्णैर्युक्ताः, 'झ भ घ ढ ध' इत्यादिचतुर्थवर्णाः, उपरि, अध, द्वयोर्वा सरेफाः वर्णाः, टवर्गीयवर्णाः यद्वा टवर्गीयवर्णैर्युक्ताः वर्णास्तथा च शकार-षकारादयो वर्णाः इति। यथोक्तं दर्पणे—

वर्गस्याद्यतृतीयां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठडढैः सह ।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ॥

अस्योदाहरणं यथा--'च्छ्रुतिकटु'रित्यत्र चकारछकारयोः संयोगस्य, अधो रेफस्य, टवर्णस्य च प्रयोगः, 'वर्ण' इत्यत्र उपरि रेफस्य णकारस्य प्रयोग 'श्रवणो' इत्यत्रापि णकारप्रयोगश्च श्रुतिकटुरस्ति । श्रुतिकटुत्वव्यञ्जकवर्णानां बाहुल्यादिदं श्रुतिकटोरुदाहरणम् ।

च्युतसंस्कृतिदोषं लक्षयन्नाह--संविन्दत इत्यादि । व्याकरणानां शब्दसाधुत्व-नियमप्रतिपादकानां पाणिनीयादीनां नियमाद् विरुद्धं विपरीतं च्युता नष्टा संस्कृतिः व्याकरणनियमपूर्वकसाधुत्वं यस्य तत् इत्यन्वर्थसंज्ञको दोषो भवतीति । व्याकरणनियमैः सिद्धा एव शब्दाः साधुशब्दा भवन्ति । तेषां साधूनामेव शब्दानां शिष्टैः महाकविभिर्वा प्रयोगः क्रियते, किन्तु यत्राज्ञानात्, असामर्थ्याद्वा असाधूना-मेव शब्दानां प्रयोगः स्यात् तत्र व्याकरणलक्षणहीनत्व-लक्षणश्च्युतसंस्कृतिनामको दोषो भवतीति सर्वं सुस्पष्टम् ।

अस्योदाहरणम्--संविन्दत इति । अत्र आत्मनेपदविधानं व्याकरणनियम-विरुद्धमस्ति । 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकात् सम्पूर्वक'विद्'-धातोः अकर्मकादेवात्मनेपदं भवति किन्तु अत्र सकर्मकादात्मनेपदविधानं कृतमिति व्याकरणनियमविरुद्धप्रयोगात् च्युतसंस्कृतिदोषः ॥२॥

हिन्दी व्याख्या--दोष विशेष के स्वरूप का प्रतिपादन कर शब्ददोषों का प्रतिपादन करना प्रसङ्गत प्राप्त होने पर, शब्द के पदगत एवं वाक्यगत रूप में होने के कारण प्रथम प्रतिपादक पददोषों में से पहले 'श्रुतिकटु' के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये कहा है--भवेदिति । कानों के उद्वेजन (अप्रियता) सम्पादन में पटु (कुशल) वर्ण श्रुतिकटुनामक दोष कहलाता है । यहाँ वर्ण से केवल अक्षर अभिमत नहीं है, अपितु वर्णसमूहरूप शब्द भी अभीष्ट है । इस प्रकार श्रवणोद्वेजनपटुशब्दत्व श्रुतिकटु का लक्षण है--यह निष्कर्ष निकला । श्रवणोद्वेजकता के व्यञ्जक वर्णों के रूप में--वर्गों के प्रथम वर्ण 'क च ट त प'

से युक्त वर्गों के द्वितीय वर्ण 'ख फ छ ठ थ' इत्यादि, वर्गों के तृतीयवर्ण 'ज ब ग ड द' से युक्त चतुर्थवर्ण 'झ भ घ ढ ध' इत्यादि, ऊपर, नीचे या दोनों तरफ रेफयुक्तवर्ण टवर्गीय' या टवर्गीयवर्णों से युक्त वर्ण तथा शकार एवं षकार—इत्यादि वर्ण प्रसिद्ध हैं। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है—

'वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठडढैः सह।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ॥'

श्रुतिकटु का उदाहरण जैसे—'भवेच्छ्रुतिकटु' इत्यादि। यहाँ च तथा छ का संयोग है। छकार में नीचे रेफ का तथा कटु में ट का प्रयोग है। वर्णों में ऊपर रेफ है तथा णकार का प्रयोग है। इस प्रकार श्रवणोद्वेजकता के व्यञ्जक-वर्णों का प्रयोग होने के कारण यह श्रुतिकटु का उदाहरण हुआ।

च्युतसंस्कृति का लक्षण करते हुये कहा है—'संविन्दते' इत्यादि। शब्द-साधुत्व नियमों के प्रतिपादक पाणिनीय आदि व्याकरणों के नियम के विरुद्ध असाधु शब्दों का प्रयोग जहाँ होगा उसे च्युत (नष्ट) है संस्कृति (व्याकरण-साधुता) जिसकी, इस प्रकार अन्वर्थसंज्ञा वाला च्युतसंस्कृति नामक काव्यदोष कहते हैं। व्याकरण नियमों से सिद्ध ही शब्द साधुशब्द कहे जाते हैं। शिष्टजन तथा महाकवियों के द्वारा साधुशब्दों का ही प्रयोग किया जाता है, किन्तु जहाँ अज्ञान अथवा असामर्थ्य के कारण असाधु शब्दों का प्रयोग हो जाता है, वहाँ व्याकरणलक्षणहीनत्वरूप च्युतसंस्कृति दोष माना गया है—यह सुस्पष्ट है।

इसका उदाहरण है—संविन्दते। 'संविन्दते' में आत्मनेपद का प्रयोग व्याकरण के नियम के विरुद्ध है। 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक के नियमानुसार 'सम्'पूर्वक 'विद्' धातु से अकर्मक में आत्मनेपद होता है किन्तु यहाँ सकर्मक में ही आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है। अतः यह व्याकरणनियमविरुद्ध च्युतसंस्कृति नामक काव्यदोष का उदाहरण हुआ ॥२॥

अप्रयुक्तं दैवतादिशब्दे पुंल्लिङ्गतादिकम्।
असमर्थं तु हन्त्यादेः प्रयोगो गमनादिषु ॥३॥
स हन्ति हन्त कान्तारे कान्तः कुटिलकुन्तलः।

संस्कृत व्याख्या—अप्रयुक्तं लक्षयन्नाह—अप्रयुक्तमित्यादि । दैवतादिशब्दे पुंल्लिङ्गतादिकमप्रयुक्तम् । कोषलिङ्गानुशासनादौ तथा प्रसिद्धमपि कविभिरनादृतत्वमप्रयुक्तत्वमिति फलितम् । अयं भावः—लिङ्गनियमप्रतिपादके लिङ्गानुशासने कोषादौ वा कश्चिच्छब्दः उभयलिङ्गत्वेन प्रतिपादितस्तथापि महाकविभिः कस्मिंश्चिदेकस्मिन्नेव लिङ्गे तत्प्रयोगः क्रियते कृत इति स कविसमयत्वेन प्रसिद्धो जातः, किन्तु यदि कश्चित् तद्विपरीते लिङ्गे तत्प्रयोगं करोति तदा अप्रयुक्तं नाम काव्यदोषो भवति । यथा—दैवतः, आदिना पद्म इति । यद्यपि 'दैवतानि पुंसि वा' तथा च 'वा पुंसि पद्मम्' इत्यादि कोषवचनाद् दैवतशब्दः पद्मशब्दश्चोभयलिङ्गत्वेन निर्दिष्टौ तथापि 'दैवतम्' 'पद्मम्' इत्यादिनपुंसकलिङ्गत्वेनैव कविभिः प्रयुज्येते । एवञ्च दैवतपद्मशब्दयोः नपुंसकलिङ्गत्वं कविसमयत्वेन ख्यातमस्ति । अतो दैवतशब्दे पुंल्लिङ्गेऽप्रयुक्तं नाम दोषस्तथैव 'भाति पद्मः सरोवरे' इत्यादौ पद्मस्य पुंल्लिङ्गत्वेऽप्यप्रयुक्तमिति ।

असमर्थं लक्षयन्नाह—'असमर्थं तु' इत्यादि ।

यः शब्दः शास्त्रे प्रसिद्धमप्यर्थं प्रत्याययितुमसमर्थस्तस्मिन्नर्थे तत्प्रयोगेऽसमर्थं नाम दोषः । एवञ्चाभीष्टार्थाप्रतिपादकत्वमसमर्थत्वमिति तल्लक्षणं फलितम् । हन्त्यादेः गमनादिषु प्रयोगेऽसमर्थमिति । अयं भावः—'हन् हिंसागत्योरि'त्यादिरूपेण यद्यपि व्याकरणशास्त्रे 'हन्'-धातुः हिंसार्थे गत्यर्थे च विहितस्तथापि गमनार्थं प्रत्याययितुमसमर्थ इति गत्यर्थे तत्प्रयोगेऽसमर्थं नाम काव्यदोष इति ॥ ३ ॥

यथा—'स हन्ती'त्यादि । कान्तो रमणीयः कुटिलो वेल्लितः कुन्तलः केशपाशो यस्य स एवम्भूतः स कान्तारेऽरण्ये हन्ति गच्छति, इति हन्त खेदे खेदकरोऽस्तीति । अत्र गमनार्थम्प्रत्याययितुं हन्तिपदमसमर्थमिति ॥ ३ ॥

हिन्दी व्याख्या—अप्रयुक्त दोष के स्वरूप का निरूपण करते हुये कहा है—'अप्रयुक्तम्' इत्यादि । दैवत आदि शब्दों में पुंल्लिङ्ग का प्रयोग होने पर अप्रयुक्त दोष होता है । कोष एवं लिङ्गानुशासन आदि में उस रूप में प्रसिद्ध होने पर भी कवियों के द्वारा उस लिङ्ग में प्रयोग न होना इसके दूषकता का बीज है ।

इसका तात्पर्य यह है कि लिङ्गानुशासन अथवा कोष आदि में कोई शब्द उभय लिङ्ग के रूप में प्रतिपादित हो फिर भी महाकवियों के द्वारा किसी एक ही लिङ्ग में उसका प्रयोग किया जाता हो, इस प्रकार वह कविसमयख्याति के रूप में प्रसिद्ध हो गया हो फिर कोई उसका प्रयोग विपरीत लिङ्ग में करे, तब अप्रयुक्त नामक काव्यदोष होगा। जैसे—'दैवतः'। आदिपद से 'पद्मः'। यद्यपि 'दैवतानि पुंसि वा' तथा 'वा पुंसि पद्मम्' (अर्थात् दैवत शब्द तथा पद्म शब्द बिकल्प से पुंल्लिङ्ग भी होते हैं) इत्यादि कोषवचन के अनुसार 'दैवत' तथा 'पद्म' शब्द उभयलिङ्ग के रूप में निर्दिष्ट हैं, तथापि कवियों के द्वारा नपुंसकलिङ्ग के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। अतः नपुंसकलिङ्ग में इनका प्रयोग कविसमय के रूप में प्रसिद्ध हो चुका है। अब यदि कोई 'दैवतः' इस रूप में पुंल्लिङ्ग में प्रयोग करता है तो वहाँ अप्रयुक्त नामक काव्यदोष होगा। इसी प्रकार 'भाति पद्मः सरोवरे' इत्यादि में पद्मशब्द के पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त होने पर भी अप्रयुक्त नामक दोष होगा।

असमर्थदोष का प्रतिपादन करते हुये कहा है—'असमर्थं तु' इत्यादि। जो शब्द शास्त्र में (प्रसिद्ध) विहित अर्थ की प्रतीति कराने में असमर्थ हो, उस अर्थ में, उस शब्द का प्रयोग करने पर असमर्थ दोष होता है। इस प्रकार अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन न कर पाना असमर्थ का लक्षण है--यह निष्कर्ष रूप में फलित हुआ। 'हन्ति' आदि का गमन आदि में प्रयोग होने पर असमर्थ दोष हो जाता है ॥३॥

तात्पर्य यह है कि--"हन् हिंसागत्योः" इस रूप में व्याकरणशास्त्र में 'हन्' धातु हिंसा तथा गति--दोनों अर्थों में विहित है तथापि वह 'हिंसा' के समान 'गति' अर्थ का प्रतिपादन करने में असमर्थ है। अतः 'गति' अर्थ में उसका प्रयोग होने पर असमर्थ दोष माना जाता है। इसका उदाहरण जैसे—'स हन्ति' इत्यादि। 'वह घुँघराले बालों वाला व्यक्ति घने जंगल में जा रहा है--यह कष्ट की बात है'। इस वाक्य में गमन अर्थ में प्रयुक्त 'हन्ति' पद असमर्थ दोष का उदाहरण है ॥३॥

निहतार्थं लोहितादौ शोणितादि प्रयोगतः ॥४॥

संस्कृत व्याख्या--निहतार्थं लक्षयन् कथयति--लोहितादौ शोणितादिप्रयोगतो निहतार्थमिति। एवमुभयार्थकस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगे निहतार्थं नाम दोषो भवतीति। यथा लोहितशब्दप्रयोगे शोणितशब्दप्रयोग इति।

अयं भावः--यद्यपि लोहितशब्दो रुधिर-रक्तवर्णपरयोः अर्थयोः प्रतिपादकः, तथापि तस्य रुधिररूपोऽर्थः प्रसिद्धः, रक्तवर्णरूपश्चार्थोऽप्रसिद्ध इति। एवमेव शोणितशब्दोऽपि तदुभयार्थप्रतिपादकोऽपि रक्तवर्णे प्रसिद्धः, रुधिरार्थे चाप्रसिद्ध इति लोहिते शब्दे प्रयोज्ये तत्र शोणितशब्दप्रयोगे तत्समुचितार्थप्रतीतिर्न जायत इति निहतार्थं नाम दोष इति ॥४॥

हिन्दी व्याख्या—निहतार्थ का लक्षण करते हुये कहा है—'निहतार्थम्' इत्यादि। लोहित आदि के स्थान पर शोणित आदि के प्रयोग होने पर निहतार्थ होता है। इस प्रकार दो अर्थों वाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग होने पर निहतार्थ होता है। जैसे--'लोहित' शब्द के स्थान पर 'शोणित' शब्द का प्रयोग करने पर।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'लोहित' शब्द रक्त तथा लाल रंग--इन दोनों अर्थों का वाचक है तथापि रुधिर अर्थ में प्रसिद्ध है तथा लालवर्णरूप अर्थ में अप्रसिद्ध। इसी प्रकार 'शोणित' शब्द भी दोनों अर्थों का वाचक होता हुआ भी लालवर्णरूप अर्थ में प्रसिद्ध एवं रुधिररूप अर्थ में अप्रसिद्ध है। इस प्रकार 'लोहित' शब्द के स्थान पर 'शोणित' शब्द का प्रयोग होने पर समुचित अर्थ की प्रतीति न होने के कारण निहतार्थ नामक दोष होगा ॥४॥

व्यनक्त्यनुचितार्थं यत् पदमाहुस्तदेव तत्।
इयमद्भुतशाख्यप्रकेलिकौतुकवानरी ॥५॥

संस्कृत व्याख्या--अनुचितार्थं लक्षयति--व्यनक्तीत्यादि। काव्यप्रयुक्तं यत्पदमनुचितः स्वभावविरुद्धश्चासावर्थं इति व्यक्ति(वस्तु)स्वभावप्रतिकूलमर्थं व्यनक्ति व्यञ्जनया प्रतिपादयति तत् पदं तत् अनुचितार्थमेव, आहुः कथयन्ति

काव्यशास्त्रिणः। एवमत्र व्यञ्जनया तन्निष्ठस्वभावप्रतिकूलार्थप्रतिपादकत्वमनुचितार्थत्वमित्यनुचितार्थलक्षणं सम्पन्नम्।

अस्योदाहरणं यथा--इयमद्भुतेत्यादि। इयं नायिका अद्भुतस्तन्नामको रसः स एव शाखी वृक्षस्तस्याग्रे शिखायां यत् केलिकौतुकं रतिक्रीडाकुतूहलं तत्र वानरी शाखामृग्यस्ति। अत्राद्भुते रसे शाखिनः, नायिकायाञ्च वानर्या आरोपः एवञ्च यथा काचिद् वानरी वृक्षशाखाग्रे क्रीडाकौतुकिनी भवति तथैवेयं नायिका अद्भुतरतिक्रीडाकौतुकिन्यस्ति—इति नायिकायां वानर्या आरोपे वानरीत्वेन नायिकाव्यवहारे वानरीपदं तच्चतुरनायिकास्वभावप्रतिकूलमेवार्थं व्यञ्जनया प्रतिपादयति, तत्क्रीडायामपकर्षत्वमेव सूचयतीति अनुचितार्थस्योदाहरणं जायते ॥५॥

हिन्दी व्याख्या--अनुचितार्थ का लक्षण करते हुये कहते हैं--'व्यनक्ति' इत्यादि। काव्य में प्रयुक्त होने वाला जो पद अनुचित (स्वभावविरुद्ध) अर्थ को व्यक्त करता है, वह अनुचितार्थ नाम से ही (काव्यशास्त्रियों द्वारा) कहा गया है। इस प्रकार व्यञ्जना से तन्निष्ठ स्वभाव के प्रतिकूल अर्थ का प्रतिपादन करना अनुचितार्थ का लक्षण है।

इसका उदाहरण है--'इयमद्भुत' इत्यादि। 'यह नायिका अद्भुत रसरूपी वृक्ष के अग्रभाग पर केलिक्रीडा की कौतुकवाली वानरी है'। यहाँ अद्भुत रस में वृक्ष का तथा नायिका में वानरी का आरोप किया गया है। इस प्रकार जैसे—कोई वानरी वृक्ष की शाखा के अग्रभाग पर क्रीडा की कौतुकिनी होती है, उसी प्रकार यह नायिका अद्भुत रतिक्रीडा में सर्वाधिक कौतुकिनी है--इस अर्थ की प्रतीति होती है। नायिका में वानरी का आरोप होने के कारण वानरी के रूप में नायिका का व्यवहार मानने पर वानरीपद उस चतुरनायिका के स्वभाव के प्रतिकूल अर्थ को व्यञ्जना के द्वारा व्यक्त करता है, उसके रतिक्रीडा में कुशलता की अपेक्षा अपकर्ष की ही प्रतीति कराता है। अतः 'वानरी'-पद अनुचितार्थ का उदाहरण है ॥५॥

निरर्थकं तुहीत्यादि पूरणैकप्रयोजनम्।

संस्कृत व्याख्या--निरर्थकं लक्षयति—निरर्थकमित्यादि। पूरयतीति पूरणं

छन्दःशास्त्रदृष्ट्या वर्णमात्राभिश्छन्दसां पूरणं छन्दोभङ्गनिवारणमेवैकं केवलं प्रयोजनमुद्देश्यं फलं यस्य तत् 'तु' 'हि' इत्यादि पदं निरर्थकं तन्नाम दोष इति। एवञ्च येषां पदानां वाक्यार्थे कश्चिदुपयोगो न जायते, अपितु पादपूरणार्थमेव येषां प्रयोगो जायते तानि निरर्थकस्योदाहरणानि 'तु' 'हि' आदिना च खलु इत्यादीनि। यथा—'मुञ्च मानं हि मानिनि!' अत्र—हे मानिनि! मानं मुञ्चेत्यस्मिन् वाक्यार्थे 'ही'त्यस्य कश्चिदुपयोगो नास्ति। केवलं पादपूरणार्थमेव हिपदमुपात्तमस्ति। यथा वा—

'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः॥'

इत्यत्र खलु-पदं पादपूरणार्थमिति निरर्थकम्। एवमेव तुचादीनां प्रयोगेऽपि ज्ञेयम्।

हिन्दी व्याख्या—निरर्थक का लक्षण करते हुये कहा है—'निरर्थकम्' इत्यादि। छन्दःशास्त्र की दृष्टि से छन्दःपूर्ति में कभी-कभी वर्ण या मात्रा की कमी हो जाती है तथा कवि को उसकी पूर्ति निरर्थक 'तु हि' इत्यादि पदों के प्रयोग से करनी पड़ती है। इस प्रकार मात्र छन्दोभङ्गनिवारण के लिये जहाँ इन 'तु हि' इत्यादि पदों का प्रयोग किया जाता है, उसे निरर्थक नामक काव्यदोष कहा जाता है। वाक्यार्थ में इन पदों के अर्थों का कोई उपयोग न होने के कारण इनकी निरर्थकता सिद्ध है तथा इसी नाम से इस दोष को भी निरर्थक कहा जाता है। इस प्रकार निरर्थक पदों के उदाहरण हैं 'तु हि' तथा आदिपद से 'च' 'खलु' आदि।

जैसे—'मुञ्च मानं हि मानिनि।'—हे मानिनि! तुम अपने मान को छोड़ दो। इस वाक्यार्थ में 'हि' के अर्थ का कोई उपयोग नहीं होता। केवल पादपूर्ति के लिये ही 'हि' पद उपात्त है। इसी प्रकार अभिज्ञानशाकुन्तल के—

'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः॥'

इस श्लोक में खलु' पद पादपूरणार्थक होने के कारण निरर्थक है। इसी प्रकार 'तु' तथा 'च' आदि के प्रयोग में भी समझना चाहिये।

अर्थे विदधदित्यादौ दधदाद्यमवाचकम् ॥६॥

संस्कृत व्याख्या--अवाचकं लक्षयन्नाह—'अर्थे' इत्यादि। अभीष्टार्थबोधकत्वमवाचकत्वमित्यवाचकलक्षणम्। अभीष्टार्थबोधकत्वञ्चोभयथा—न्यूनपदत्वे अधिकपदत्वे च सिद्धम्। न्यूनपदत्वस्योदाहरणं यथा--विदधदित्यस्य स्थाने 'दधत्' इति। विदधद्-दधतोः 'वी'त्युपसर्गमात्रस्य भेदः, एकमभीष्टार्थबोधकमपरं च पदं तदभीष्टार्थबोधकमिति तत्कारणमेवं ज्ञेयम्—

'उपसर्गेण धात्वर्थः बलादन्यः प्रतीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥'

इति दिशोपसर्गेण धातोरर्थे भेदो जायते, यथाऽत्र एकस्यैव 'हृ'-धातोः हरणार्थकस्य 'प्र-आङ्-सम्-वि-परि' इत्याद्युपसर्गाणां प्रयोगात् ताडन-भोजन-विनाश-सौख्य-त्यागादयोऽनेकेऽर्थाः जायन्ते। एकस्मिन्नर्थेऽपरस्य प्रयोगो नैव भवितुमर्हति, प्रहारे वक्तव्ये आहारो नैव कथयितुं शक्यते। एवञ्च प्रहारे वर्णनीये आहारो निरर्थकः। तथैव धारणार्थकोऽपि 'धा' 'दध्' धातुः व्युपसर्गेण करणार्थकः। एवञ्च कारणार्थे विदधदिति प्रयोक्तव्ये धारणार्थकं 'दधत्' इति पदमवाचकमिति। अत्रावाचकत्वे न्यूनपदत्वं कारणम् ॥६॥

हिन्दी व्याख्या—अवाचक का लक्षण करते हुये कहा है—'अर्थे' इत्यादि। अभीष्टार्थबोधकत्व (अभीष्ट अर्थ का बोधन कराना) ही अवाचक का लक्षण है। अभीष्टार्थबोधकत्व दो प्रकार से होता है—१. न्यूनपद के कारण। तथा २. अधिकपद के कारण। न्यूनपदत्व का उदाहरण है—विदधत् के स्थान पर दधत् का प्रयोग। यद्यपि 'विदधत्' तथा 'दधत्' में केवल 'वि' उपसर्ग का ही भेद हैं, तथापि दोनों के अर्थ में महान् भेद है--किसी प्रसंग में एक अभीष्ट अर्थ का बोधक है तो दूसरा अभीष्टार्थबोधक नहीं है। इसका कारण यह है कि 'उपसर्गेण धात्वर्थः' इत्यादि के अनुसार उपसर्ग से जबरदस्ती धातु का अर्थ बदल जाता है। जैसे—प्रहार, आहार, संहार, विहार एवं परिहार

इत्यादि। अर्थात् हरणार्थक एक ही हृधातु 'प्र-आङ्-सम्-वि-परि' इत्यादि उपसर्गों के कारण ताडन, भोजन, विनाश, सौख्य एवं त्याग आदि अनेक अर्थों का वाचक बन जाती है। इनमें से एक अर्थ में दूसरे का प्रयोग नहीं हो सकता, प्रहार कहने की जगह पर आहार नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार धारणार्थक 'धा, दध्' धातु 'वि'-उपसर्ग के द्वारा करणार्थक बन जाते है। इस प्रकार करणार्थक 'विदधत्' की जगह पर धारणार्थ 'दधत्' का प्रयोग कर देने पर अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो पायेगी। अतः 'दधत्' पर 'विदधत्' के अर्थ का अवाचक है ॥६॥

धत्ते नभस्तलं भास्वानरुणं तरुणैः करैः।
एकाक्षरं विना भूभ्रूक्ष्मादिकं खतलादिवत् ॥७॥

संस्कृत व्याख्या—अवाचकमुदाहरति—'धत्ते' इत्यादि। न्यूनपदत्वे विदधदित्यस्य स्थाने 'दधत्' इति निर्दिश्य पुनरपि तदुदाहरति—'धत्ते' इत्यादि। भास्वान् सूर्यः तरुणैः प्रखरैः करैः किरणैः नभस्तत्रमाकाशम् अरुणं रक्तवर्णं धत्ते विधत्ते करोतीति भावः। अत्र 'विधत्ते' इति वक्तव्ये 'धत्त' इति प्रयुक्तमस्ति। केवलं दध्धातुः धारणार्थकः 'वी'त्युपसर्गस्य प्रयोगात्करणार्थको जायत इति। एवं करणार्थे 'धत्ते' इत्यवाचकम्। केवलेन 'धत्ते' इत्यनेन करणार्थस्याप्रतीतेः। अत्र 'वि' इति न्यूनमतो न्यूनपदत्वावाचकस्योदाहरणमिदम्।

पदगतमवाचकमेकस्मिन् पदे एकाक्षरसंयोजनेन एकाक्षरं विना च जायत इति सुस्पष्टम्—एकाक्षरसंयोजनेऽधिकपदत्वमेकाक्षरेण च विना न्यूनपदत्वमिति। यथा—'भू' 'भ्रू' 'क्ष्मा' इत्येकाक्षरं विना केवलं तल-युगादिपदमवाचकं भवति। भूतलम्, भ्रूयुगम्, क्ष्मातलमित्यादि वक्तव्ये भूभ्रूक्ष्मादिकं विहाय केवलं तल-युगादीनां प्रयोगेऽभीष्टार्थसिद्धिर्न जायते, तत्संयोजनेनैव जायते—खतलम्, भूतलम्, भ्रूयुगम्, नेत्रयुगमित्यादिवत्।

क्वचित्त्वेकाक्षरमपि पूर्णार्थबोधकं जायते। यथा—भूपदं भूतलस्य, भ्रूपदं भ्रूयुगस्य, क्ष्मापदं क्ष्मातलस्य वाचकं भवत्येव, यथा खतलयोर्न कोऽपि विशेषः।

अधिकपदत्वे तदुदाहृणं यथा—'गीतेषु कर्णमादत्ते ।' अत्र ददातीत्यर्थे आस्ते इति पदमभीष्टार्थाबोधकत्वादवाचकम् । आङुपसर्गात् 'दद्'-धातोर्ग्रहणार्थकत्वात् । अत्राङितिपदमधिकम् ॥६॥

हिन्दी व्याख्या—अवाचक का उदाहरण देते हुये कहते हैं—'धत्ते' इत्यादि । न्यूनपदत्व में अवाचक के उदाहरण के रूप में 'विदधत्' के स्थान पर 'दधत्' को निर्दिष्ट कर काव्यरूप में उसका उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—'धत्ते' इत्यादि । 'सूर्य अपने प्रखर किरणों के द्वारा नभस्तल (आकाश) को लाल बना रहा है ।' इस उदाहरण में 'विधत्ते' की विवक्षा में 'धत्ते' का प्रयोग किया गया है । केवल 'दध्' धातु धारणार्थक है किन्तु 'वि' उपसर्ग लगा देने पर वह करणार्थक बन जाता है । इस प्रकार 'धत्ते' पद करणार्थ का अवाचक है, क्योंकि केवल 'धत्ते' से करणार्थ की प्रतीति नहीं होती । यहाँ 'वि' न्यून है । अतः यह न्यूनपदत्व अवाचक का उदाहरण हुआ ।

पदगत अवाचक एक पद में कहीं एक अक्षर के जोड़ देने से तथा कहीं एक अक्षर के कम कर देने से होता है । एक अक्षर के संयोजन से अधिकपदत्व तथा एक अक्षर के (बिना) कम कर देने पर न्यूनपदत्व होता है । जैसे—'भू, भ्रू, क्ष्मा' इत्यादि एक अक्षर के बिना 'तल, युग' आदि पद अवाचक हो जाते हैं । अर्थात् 'भूतल, भ्रूयुग, क्ष्मातल' इत्यादि के वक्तव्य होने पर केवल 'भू, भ्रू तथा क्ष्मा' इत्यादि को छोड़ कर केवल 'तल, युग' आदि का प्रयोग करने पर अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती । उनके जोड़ देने पर 'भूतल, खतल, भ्रूयुग, नेत्रयुग' इत्यादि रूप में अभीष्टार्थ की सिद्धि होती है ।

कहीं-कहीं तो एक अक्षर भी पूर्ण अर्थ का बोधक होता है । जैसे—'भू'-पद भूतल का, 'भ्रू'-पद भ्रूयुग का तथा 'क्ष्मा'-पद क्ष्मातल का बोधक होता है । जैसे—'ख' तथा 'खतल' नभ तथा 'नभस्तल' में कोई अन्तर नहीं । उसी प्रकार भू तथा भूतल में भी कोई अन्तर नहीं है । दोनों 'पृथिवी' अर्थ के बोधक हैं ।

अधिकपद अवाचक का उदाहरण जैसे—'गीतेषु कर्णमादत्ते' (गीतों पर कान देता है, लगाता है) । यहाँ देने अर्थ में 'आदत्ते' का प्रयोग अभीष्टार्थ

की प्रतीति में बाधक है। क्योंकि 'आङ्' उपसर्ग लगा देने पर दानार्थक 'दद्' धातु ग्रहणार्थक बन जाती है। इस प्रकार दोनों अर्थ बिल्कुल एक-दूसरे के विपरीत हो जाते हैं। प्रस्तुत उदाहरण में 'आदत्ते' पद दानार्थ का अवाचक है। अवाचकता में 'आङ्' की अधिकता कारण है। अतः यह अधिकपद अवाचक का उदाहरण है ॥७॥

अश्लीलं त्रिविधं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलात्मना।

आह्लादसाधनं वायुः कान्तानाशे भवेत् कथम् ? ॥८॥

संस्कृत व्याख्या—अश्लीलं लक्षयति--'अश्लीलम्' इत्यादि। श्रीः अस्यास्तीति तच्छीलं श्लीलं सभ्योऽर्थः, न श्लीलम् अश्लीलमित्यसभ्योऽर्थः। एवञ्च असभ्यार्थव्यञ्जकत्वम् अश्लीलत्वमिति। यत्राभिधया कश्चिदसभ्योऽर्थो न भवति किन्तु तेन व्यङ्ग्यरूपेणासभ्यार्थप्रतीतिर्जायते तत्राश्लीलं नाम काव्यदोषो भवतीति स्पष्टम्। व्रीडा, लज्जा, जुगुप्सा, घृणा, अमङ्गलमकल्याणञ्चेति व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलानि तान्येव आत्मा स्वरूपं येषां तेन रूपेण अश्लीलं त्रिविधं त्रिप्रकारकं जायते—व्रीडाश्लीलत्वम्, जुगुप्साऽश्लीलत्वम्, अमङ्गलाश्लीलत्वमिति।

अश्लीलत्वमुदाहरति--आह्लादसाधनमित्यादि। कान्तायाः प्रियतमायाः नाशे विनाशे मरणे इति भावः, वायुः पवनम् आह्लादस्यानन्दस्य साधनं कारणं कथं भवेत् ? नैव भवेदिति भावः। अत्र आह्लादसाधनम्, वायुः, कान्तानाशे इति क्रमशस्त्रिविधस्याप्यश्लीलत्वस्योदाहरणानि। प्रकृतेऽत्र साधनपदं कारणपरम्, किन्तु व्यञ्जनया पुरुषेन्द्रियरूपं लज्जाजनकमर्थमपि प्रतिपादयति। अतो व्रीडाश्लीलत्वस्योदाहरणमिदम्। यथा—'दृप्तारिविजये राजन्! साधनं सुमहत्तव।' वायुपदमत्र पवनार्थे उक्तम्, किन्तु व्यञ्जनया अपानवायुरूपार्थप्रतिपादकमिति जुगुप्साऽश्लीलत्वम्। स्पष्टमुदाहरणं यथा—'प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि! ते तदा' इति। 'कान्तानाशे' इत्यत्र नाशपदमङ्गलव्यञ्जकमित्यमङ्गलाश्लीलत्वम् ॥८॥

हिन्दी व्याख्या।—अमङ्गल का लक्षण करते हुये कहा है—'अश्लीलम्' इत्यादि। श्लील का अर्थ है—शोभासम्पन्न सभ्य अर्थ। जो श्लील नहीं है, वह अश्लील है अर्थात् असभ्य अर्थ। इस प्रकार असभ्यार्थ की व्यञ्जकता जहाँ हो अर्थात् जिससे व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्यरूप में असभ्य अर्थ की प्रतीति होती है, उसे अश्लील नामक दोष कहते हैं। यहा अभिधावृत्ति से असभ्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अपितु व्यञ्जना के द्वारा होती है। यह अश्लील—व्रीड़ा (लज्जा) जुगुप्सा (घृणा) तथा अमङ्गल (अकल्याण) रूप से तीन प्रकार का होता है। इन्हें क्रमशः व्रीडाश्लील, जुगुप्साश्लील तथा अमङ्गलाश्लील कहते हैं।

अश्लील दोष का उदाहरण देता है—'आह्लादसाधनम्' इत्यादि। 'प्रियतमा के नाश (मृत्यु) हो जाने पर वायु (पवन) आह्लाद (आनन्द) का कारण कैसे बन सकती है ? अर्थात् नहीं बन सकती।' इस वाक्य में आह्लादसाधन वायु तथा नाश क्रमशः तीनों प्रकार के अश्लीलत्व के उदाहरण हैं। यद्यपि प्रकृत उदाहरण में साधन का अर्थ—कारण है तथापि साधनपद व्यञ्जनया पुरुषेन्द्रिय रूप लज्जाजनक असभ्य अर्थ का भी प्रतिपादन करता है। इसलिये यह व्रीडाश्लीलत्व का उदाहरण है। व्रीडाश्लीलत्व का उदाहरणान्तर जैसे—'दृप्तारिविजये' इत्यादि। हे राजन् ! उद्धत शत्रुओं को जीतने के लिये आपके पास (महत् साधन) बड़ी सेना है। यहाँ भी साधनपद व्रीडाव्यञ्जक है।

जुगुप्सा अश्लील का उदाहरण है—वायु। प्रकृत उदाहरण में वायु का अर्थ पवन है, किन्तु यह पद व्यञ्जना के द्वारा अपानवायुरूप अर्थ का भी प्रतिपादन करता है। अतः यह जुगुप्सा अश्लील का उदाहरण है। इसका स्पष्ट उदाहरण जैसे—'प्रससार शनैर्वायुः' इत्यादि। अर्थात्—'हे तन्वि ! तुम्हारा विनाश होने पर वायु धीरे से चली।' इसमें वायुपद अपानवायु को व्यक्त करता है तथा जुगुप्सा का प्रतिपादन करता है। अतः यह जुगुप्सा अश्लील का उदाहरण है।

अमङ्गल अश्लील का उदाहरण है—'कान्तानाशे' में 'नाशे' यह पद। नाशपद मरणार्थक होने के कारण अमङ्गल का व्यञ्जक है। इस प्रकार यह

अमङ्गल अश्लील का उदाहरण है—यह स्पष्ट है ॥८॥

स्याद् द्व्यर्थमिह सन्दिग्धं नद्यां यान्ति पतत्त्रिणः ।
स्यादप्रतीतं शास्त्रैकगम्यं वीताऽनुमादिवत् ॥९॥

संस्कृत व्याख्या—सन्दिग्धं लक्षयति—स्याद् द्व्यर्थमित्यादि । इह काव्ये द्वौ अर्थौ यस्मिन् तद् द्व्यर्थं सन्दिग्धं स्याद् भवेत् । एवं द्व्यर्थत्वं सन्दिग्धत्वमिति सन्दिग्धलक्षणम् । अर्थाद् यत्राभिधयाऽर्थद्वयप्रतिपादकस्य शब्दस्य प्रयोगो जायते तत्र सन्दिग्धं नाम काव्यदोषो भवति । अयं भावः—द्व्यर्थकशब्दश्रवणानन्तरं तयोः द्वयोरप्यर्थयोरभिधयोपस्थितिर्जायते । ततश्च प्रकरणाद्यनुशीलनपूर्वदशायां कस्मिन्नर्थे वक्तुस्तात्पर्यमिति सन्देहो जायते । एवञ्च तद्दशायां सन्दिग्धं नाम दोषो भवतीति ।

तदुदाहरति—'नद्याम्' इत्यादि । अत्र पतत्त्रिणः पक्षिणः नद्यामापगायां नदीदेशे (इति भावः) यान्ति गच्छन्ति' इत्येकोऽर्थः, न + द्याम् आकाशं यान्ति—आकाशं न यान्तीत्यपरोऽर्थः । अनयोः कस्मिन् वस्तुस्तात्पर्यमिति सन्देहे सति सन्दिग्धत्वं नाम काव्यदोष इति ।

अप्रतीतत्वं लक्षयति - स्यादप्रतीतमित्यादि । एकञ्च तच्छास्त्रमिति शास्त्रैकं तत्र गम्यमित्येकस्मिन् शास्त्रे प्रसिद्धमप्रतीतं स्याद् । एकशास्त्रमात्रप्रसिद्धत्वमप्रतीतत्वमिति तल्लक्षणम् । एवञ्च कश्चिच्छब्दः कस्मिंश्चिदर्थे कस्मिंश्चिच्छास्त्रविशेषे प्रसिद्धः, तस्य शब्दस्य काव्ये प्रयोगे सति, अर्थप्रतीतेरभावादप्रतीतं नाम काव्यदोषो जायत इति ।

अस्योदाहरणं यथा—'वीतानुमा' इति । अनुमाऽनुमिति प्रमाणमिति । तच्चानुमानं सांख्यशास्त्रे वीतावीतभेदेन द्विविधम्—वीतानुमानमवीतानुमानमिति । तत्रान्वयव्याप्त्या जायमानमनुमानं वीतानुमानमिति सांख्यशास्त्रप्रसिद्धिः । किन्तु काव्ये प्रयुक्तेन वीतानुमापदेन न तथाऽर्थावगतिरिति तत्राप्रतीतं नाम काव्यदोषो भवति । अस्य स्पष्टमुदाहरणं यथा—'योगेन दलिताशयः' इति । अत्र योगपदं वासनार्थे योगशास्त्रे प्रसिद्धम्, न तु काव्ये ॥९॥

हिन्दी व्याख्या—सन्दिग्ध का लक्षण करता है—'स्याद् द्व्यर्थम्' इत्यादि। जिस शब्द के दो अर्थ हों, काव्य में उनका प्रयोग करने पर सन्दिग्ध दोष होता है। इस प्रकार द्व्यर्थत्व सन्दिग्ध का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि दो अर्थों का प्रतिपादन करने वाले शब्दों को सुनने के बाद अभिधा शक्ति के द्वारा उन दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है। उसके बाद श्रोता के मन में प्रकरण आदि तात्पर्यनिर्णायक तत्त्वों के अनुशीलन की पूर्वदशा में श्रोता को यह सन्देह होता ही है कि किस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है ? उस दशा में सन्दिग्ध नामक काव्य दोष माना जाता है।

इसका उदाहरण है—'नद्याम्' इत्यादि। इस वाक्य का एक अर्थ है—पक्षियाँ नदी में जा रही हैं। इसका अर्थ है—पक्षियाँ आकाश में नहीं (न + द्याम्) जा रही हैं। इस 'नद्याम्' पद को सुनने के बाद दोनों अर्थ श्रोता के सामने उपस्थित होते हैं। तब श्रोता को यह सन्देह होता ही है कि वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ में हैं ? इस स्थिति में इसे सन्दिग्ध दोष का उदाहरण माना जाता है।

अप्रतीत का लक्षण करता है—'स्यादप्रतीतम्' इत्यादि। केवल एक शास्त्र में जो जाना जाय, उसे अप्रतीत कहेंगे। इस प्रकार एकशास्त्रप्रसिद्धत्व अप्रतीत दोष का लक्षण है। कोई शब्दविशेष, किसी अर्थ में किसी विशेष शास्त्र में प्रसिद्ध होता है। वह शब्द सामान्यतया उस अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता—वह शब्द यदि काव्य में उस विशेष अर्थ में प्रयुक्त हो जाय तो उससे उस अर्थ की प्रतीति नहीं हो पायेगी। अतः वहाँ अप्रतीत नामक दोष माना जायेगा।

अप्रतीत का उदाहरण है—'वीतानुमा' इत्यादि। अनुमा का अर्थ है—अनुमान् (अनुमिति)। सांख्यशास्त्र में अनुमान के दो भेद किये गये हैं—वीतानुमा तथा अवीतानुमा। अन्वयव्याप्ति के द्वारा जो अनुमान होता है, उसे वीतानुमान कहते हैं—यह सांख्यशास्त्र की प्रसिद्धि है। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होता है—यह अन्वयव्याप्ति है। यदि काव्य में यह 'वीतानुमा' पद इसी अर्थ (वीतानुमान) में प्रयुक्त हो तो वहाँ

अप्रतीत नामक काव्यदोष होगा, क्योंकि काव्य में इस अर्थ का बोध नहीं हो पायेगा। इसका स्पष्ट उदाहरण है—'योगेन दलिताशयः।' योगशास्त्र में आशय का अर्थ—वासना है। काव्य में वासना अर्थ की प्रतीति आशय शब्द से नहीं हो सकती। अतः यह अप्रतीत का उदाहरण है ॥९॥

शिथिलं शयने लिल्ये मच्चित्तं ते शशिश्रिये।
मस्तपिष्टकटीलोष्ठगल्लादि ग्राम्यमुच्यते ॥१०॥

संस्कृत व्याख्या—शिथिलं लक्षयति—'शिथिलं शयने' इत्यादि। शिथिलं स्वयं नाम्नैव स्पष्टम्। यत्र बन्धे शैथिल्यस्य प्रतीतिर्जायते तत्र शिथिलं नाम दोष इति। अस्योदाहरणं यथा—'शयने लिल्ये' इत्यादि। शशिनं चन्द्रमसं श्रयति तच्छीलं तस्मिन् शशिश्रियि कोमलत्वात् श्वेतपरिच्छदत्वाच्च चन्द्रसदृशे ते तव शयने मच्चित्तं मदीयं हृदयं लिल्ये लीनं सञ्जातमिति। अत्र पदानां बन्धे शैथिल्यमनुभवन्ति सहृदया इति शिथिलस्योदाहरणमिदम्।

ग्राम्यमपि स्पष्टमेवास्ति—यत्र ग्रामीणैः प्रयोज्यमानां शब्दानां प्रयोगो भवति तत्र ग्राम्यमेव दोष इति।

अस्योदाहरणं यथा—मस्त-पिष्ट-कटी-लोष्ठ-गल्लादयः शब्दाः। अत्र मस्तपदस्योन्मत्तोऽर्थः, पिष्टस्य चूर्णान्नम्, कटीत्यस्य नितम्बोऽर्थः, लोष्ठस्य मृत्पिण्डम्, गल्लस्य च कपोलोऽर्थः एते च वाह्लीकादिग्राम्यैः प्रयोज्यमानाः सन्ति। एतेषां प्रयोगः शिष्टैर्न क्रियत इति ग्राम्या उच्यन्ते, ग्राम्यदोषस्योदाहरणानि च जायन्ते ॥१०॥

हिन्दी व्याख्या—शिथिल दोष का लक्षण करता है—'शिथिलं शयने' इत्यादि। शिथिल दोष स्वयं नाम से ही स्पष्ट है। जहाँ रचना में शिथिलता की प्रतीति होती है, उसे शिथिल नामक दोष कहते हैं। इसका उदाहरण है—'शयने लिल्ये' इत्यादि। 'चन्द्रमा के समान (कोमल एवं शुभ्र चादर वाले) तुम्हारे बिस्तर पर मेरा मन लग गया है।' इसमें पदों के बन्ध में शिथिलता की प्रतीति सहृदयों को होती है, इसलिये इसे शिथिलदोष का उदाहरण माना गया है।

ग्राम्य दोष भी स्पष्ट ही है—जहाँ ग्रामीणों के द्वारा प्रयोग किये जाने वाले शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ ग्राम्य नामक दोष माना जाता है। मस्त, पिष्ट, कटी, लोष्ठ तथा गल्ल आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। इनमें मस्त का अर्थ मस्ती या उन्मत्त होना है। पिष्ट का अर्थ है—चूर्ण अन्न। इसी प्रकार कटी नितम्ब अर्थ का, लोष्ठ मृत्पिण्ड एवं गल्लशब्द कपोल अर्थ का वाचक है। इनका प्रयोग वाह्लीक आदि देशों के ग्रामीण-जन करते हैं, शिष्टजन के द्वारा इनका प्रयोग नहीं किया जाता। अतः ये सब शब्द ग्राम्य दोष के उदाहरण हैं ॥१०॥

नेयार्थं लक्षणात्यन्तप्रसरादमनोहरम् ।

हिमांशोर्हरिधिक्कारजागरे यामिकाः कराः ॥११॥

संस्कृत व्याख्या—नेयार्थं लक्षयन्नाह—'नेयार्थ'मित्यादि। लक्षणायाः मुख्यार्थबाधरूपायाः आरोपितक्रियायाः काल्पनिकायाः शक्तेः अत्यन्तं समधिकं यथा स्यात्तथा प्रसरः प्रसारो विस्तार इति तस्मात् अमनोहरं सहृदयोद्वेजजनकं नेयार्थमिति। लक्षणाया अत्यन्तप्रसरत्वं नेयार्थत्वमिति लक्षणम्। नेयार्थत्वे तु अमनोहरत्वं बीजम्। अमनोहरत्वं तु सर्वेष्वेव दोषेषु बीजमिति प्रकृते पृथक्किमुक्तम् ? उच्यते—मुख्यार्थबाधे सति मुख्यार्थयोगरूढिप्रयोजनान्यतरहेतुना अन्यार्थ-(मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मावच्छिन्नत्वरूपार्थं)प्रतीतिर्यया जायते सा शक्तिः लक्षणेत्युच्यते। यथोक्तम्—'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिताक्रिया॥' इति। एवञ्च लक्षणायां मुख्यार्थबाधो मुख्यो हेतुः। येन केनापि शब्देन लक्षया योऽपि कोऽप्यर्थो नहि प्रतिपादयितुं शक्यतेऽपितु मुख्यार्थेन सम्बद्ध एव। तथा च वाचकं शब्दं विहाय वक्त्रा लाक्षणिकस्य शब्दस्य प्रयोगः क्रियते, इत्यत्र रूढिर्वा प्रयोजनं वा कारणं भवति। एवं रूढिप्रयोजनान्यतरं विना लक्षणायाः प्रसारो नैव भवति। यत्र तु रूढिर्न भवति, किञ्चित्प्रयोजनमपि न भवति तथापि वाचकं शब्दं विहाय लाक्षणिकस्य शब्दस्य प्रयोगो जायते तत्र लक्षणाया अत्यन्तप्रसरोऽमनोहरत्वञ्चानुभूयते। अतएवैवंविधेषु शब्देषु नेयः स्वकल्पनया प्रापणीयोऽर्थो यस्मिंस्तत् नेयार्थं नाम काव्यदोषो भवति।

अस्योदाहरणं यथा—'हिमांशोर्हरि'त्यादि। हिमांशोश्चन्द्रमसः कराः रश्मयो हारान्नायिकामौक्तिकमालायाः धिक्कारस्तिरस्कारस्तस्मात् जागरे जागरणे यामिकाः द्वाररक्षकाः सन्ति। अत्र नायिकायाः हारश्चन्द्रादप्यधिकशोभाशालीति-मत्वा हाराच्चन्द्रमसि धिक्कारस्य प्रतिपादनं कृतम्। अयं च धिक्कारः सजीव-मानवधर्मश्चन्द्रमसि तदसम्भवान्मुख्यार्थबाधः। ततश्चामनोहरत्वे लक्षणा क्रियते। अस्यां लक्षणायां न काचिद्रूढिरस्ति न च किञ्चित्प्रयोजनमिति लक्षणाया अत्रा-त्यन्तप्रसरो मन्यते। फलत्वश्चेदं नेयार्थदोषस्योदाहरणं जायते ॥११॥

हिन्दी व्याख्या—नेयार्थ का स्वरूप बतलाते हैं—'नेयार्थम्' इत्यादि। मुख्यार्थबाधरूप, शब्द की आरोपित (काल्पनिक) शक्ति लक्षणा का जहाँ अत्य-धिक प्रसार होता है, उससे आने वाले अमनोहरत्व (सहृदयहृदयोद्वेजकता) को नेयार्थ कहते हैं। नेयार्थ में अमनोहरत्व बीज है।

शङ्का—अमनोहरत्व (सहृदयहृदयाह्लादकत्वाभाव) दोषसामान्य का बीज होता है। यहाँ अमनोहरत्व पृथक् से क्यों कहा गया है ?

समाधान—मुख्यार्थबाध होने पर रूढि या प्रयोजन में से किसी एक कारण के रहते अन्य अर्थ (मुख्यार्थतावच्छेदकातिरिक्तधर्मावच्छिन्नत्वरूप अर्थ) की प्रतीति जिससे होती है, उस शब्दशक्ति को लक्षणा कहते हैं। जैसा कि काव्य-प्रकाशकार ने कहा है—'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' इत्यादि। इस प्रकार लक्षणा में मुख्यार्थबाध मुख्य हेतु है तथा मुख्यार्थयोग एवं रूढिप्रयोजनान्यतर सहायक हेतु हैं। तात्पर्य यह है कि जिस किसी शब्द से जिस किसी अर्थ का प्रतिपादन लक्षणा के द्वारा नहीं किया जा सकता। लक्षणा उस अर्थ की ही प्रतीति करा सकती है, जिसका मुख्यार्थ से सम्बन्ध हो तथा वक्ता वाचक शब्द को छोड़कर जो लाक्षणिक शब्द का प्रयोग करता है, इसमें रूढि (प्रसिद्धि) या कोई विशेष प्रयोजन होता है। रूढि या प्रयोजन के विना लक्षणा का प्रसार (प्रयोग) हो ही नहीं सकता किन्तु जहाँ रूढि या प्रयोजन के बिना ही लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किया जाता है उसे लक्षणा का अत्यन्तप्रसार कहते हैं। इसमें मनोहरत्व (सहृदयहृदयाह्लादिता) की अनुभूति नहीं होती। अतएव इस प्रकार के शब्दों

में नेय (काल्पनिक) अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण नेयार्थ नामक काव्यदोष माना जाता है ।

इसका उदाहरण है--'हिमांशोर्हरि' इत्यादि । नायिका के हार से तिरस्कृत हो (चन्द्रमा के) जागरण में चन्द्रमा की किरणें पहरेदार होती हैं । यहाँ नायिका का हार चन्द्रमा से भी अधिक शोभाशाली है--यह मान कर चन्द्रमा अपने को तिरस्कृत समझता हुआ जागता रहता है और उसकी किरणें वैसी ही प्रतीत होती हैं जैसे कोई पहरेदार (द्वाररक्षक) जागता हुआ पहरा देता रहता है । धिक्कार सजीव मानव का धर्म है । यह चन्द्रमा में नहीं हो सकता । अतः मुख्यार्थबाध है की प्रतीति होने के कारण धिक्कार की अमनोहारिता में लक्षण करते हैं । इस लक्षणा में न कोई रूढ़ि है न कोई प्रयोजन । इस प्रकार यहाँ लक्षणा का अत्यन्तप्रसार माना जाता है तथा यह श्लोकांश नेयार्थदोष का उदाहरण हो जाता है ॥११॥

क्लिष्टमर्थो यदीयोऽर्थश्रेणिनिःश्रेणिमृच्छति ।
हरिप्रियापितृवधूप्रवाहप्रतिमं वचः ॥१२॥

संस्कृत व्याख्या—क्लिष्टं लक्षयति—'क्लिष्टमर्थो' इत्यादि । यस्यायमिति यदीयो मत्पदसम्बन्धी अर्थः पदार्थः अर्थानां श्रेणिश्च निःश्रेणिश्च तं श्रेणिनिःश्रेणिं सोपानपरम्पराम् ऋच्छति गच्छति प्राप्नोतीति तत् क्लिष्टम् । यत्रैकपदप्रतिपाद्यस्यार्थस्य कृते पदपरम्परारूपवाक्यस्य प्रयोगो जायते, एवञ्च लम्बायमानयाऽर्थपरम्परया स्वरूपार्थप्रतिपादनं क्रियते तत्रार्थपरम्परारूपव्यवधानेनार्थप्रतीतौ व्यवधानं जायत इति क्लिष्टत्वं नाम पददोष सम्मतोऽस्ति । एवमर्थप्रतीतिव्यवधानत्वं क्लिष्टत्वमिति तल्लक्षणं निष्पन्नम् ।

अस्योदाहरणं यथा—'हरिप्रिये'त्यादि । हरिः भगवान् विष्णुस्तस्य प्रिया लक्ष्मीस्तस्याः पिता सागरस्तस्य वधूः गङ्गा तस्याः प्रवाहस्य जलधारायाः प्रतिमं तुल्यं शुभ्रं पवित्रं वा (ते तव) वचो वचनमस्तीति । अत्र 'गङ्गा' इत्येकपदप्रतिपाद्यस्यार्थस्य कृते पदपरम्परारूपवाक्यस्य प्रयोगो जात इति तदर्थानां

श्रेणिनिःश्रेणितया अनावश्यकपद(पदार्थ)व्यवधानात् क्लिष्टत्वम् । अत्र विलम्बेनार्थप्रतीति दोषत्वकारणमिति ॥१२॥

हिन्दी व्याख्या—क्लिष्ट का लक्षण करते हुये कहा है—'क्लिष्टमर्थौ' इत्यादि । जिस पद का अर्थ श्रेणिनिःश्रेणि (परम्परा या सोपानत्व) को प्राप्त करे, वहाँ क्लिष्टत्व नामक पददोष होता है । अर्थात् एकपदप्रतिपाद्य अर्थ के लिये जहाँ पदपरम्परारूप वाक्य का प्रयोग होता है, इस प्रकार लम्बायमान अर्थपरम्परा से स्वल्प अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, वहाँ अर्थपरम्परारूपी व्यवधान से अर्थ की प्रतीति में व्यवधान होने के कारण क्लिष्टत्व नामक पददोष होता है । इस प्रकार अर्थप्रतीति में व्यवधान होना, इस दोष का लक्षण है ।

इसका उदाहरण जैसे—'हरिप्रिया' इत्यादि । हरि भगवान् विष्णु, उनकी प्रिया लक्ष्मी, उनके पिता समुद्र, उनकी वधू गङ्गा के समान तुम्हारी वाणी है । यहाँ 'गङ्गा' इस एकपदप्रतिपाद्य अर्थ के लिये 'हरिप्रियापितृवधू' इस अनेक-पदपरम्परारूप वाक्य (के समान पद) का प्रयोग होने के कारण अर्थों में श्रेणिनिःश्रेणिता अर्थात् अनावश्यक पद (पदार्थ) के व्यवधान के कारण विलम्ब से अर्थप्रतीति होने के कारण क्लिष्टत्व दोष है । विलम्ब से अर्थप्रतीति होना ही इस दोष का कारण है ॥१२॥

अविमृष्टविधेयांशः समासपिहिते विधौ ।
विशन्ति विशिखप्रायाः कटाक्षाः कामिनां हृदि ॥१३॥

संस्कृत व्याख्या—अविमृष्टविधेयांशं लक्षयति—अविमृष्टेत्यादि । विधौ विधेये समासेन पिहिते युक्ते सति विधेयस्यान्यपदेन समासे सतीति भावः, न विमृष्टो विचारितो विधेयांशो यत्र स अन्वर्थसंज्ञः अविमृष्टविधेयांशनामको दोष इति । विधेयस्य विमर्शश्च द्विधा जायते—विधेयस्य पदान्तरेण सहासमासात्, उद्देश्यकथनान्तरं विधेयस्य कथनाच्च । अयं भावः—वाक्यमुद्देश्यविधेयात्मकं भवति । तत्र रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दमये काव्ये उद्देश्यविधेययोः प्रयोगार्थं विशिष्टो नियमोऽस्ति—'उद्देश्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' इति । अर्थात्

प्रथममुद्देश्यं वक्तव्यं पश्चाच्च विधेयमिति। यत्र तु विधेयस्यैवोक्तिः पूर्वं जायते पश्चादुद्देश्यं प्रयुज्यते तत्र विधेयस्याविमर्श इति अविमृष्टविधेयांशो दोषः। उद्देश्यविधेययोः विषयेऽपरो निममोऽस्ति—विधेयस्य पदान्तरेण समासो नैव कर्त्तव्य इति। वाक्ये विधेयांशस्यैव प्राधान्यं भवति। तच्च प्राधान्यं पदान्तरेण समासाभावाद् विधेयांशस्य पृथक् प्रतिपादनादव्याहतं भवति। यत्रान्यपदेन सह समासो जायते तत्र तत्प्राधान्यं न प्रतीयते, अपि तु आपाततस्तदुद्देश्यत्वमेव प्रतीयत इति विधेयस्याविमर्शो भवति, अविमृष्टविधेयांशो नाम काव्यदोषश्च जायते। तत्र विधेयस्य पूर्वकथनरूपाविमृष्टविधेयांशदोषो यथा—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः' इत्यादि श्लोके दृश्यते। 'अयमि'त्युद्देश्यकथनात्पूर्वमेव 'न्यक्कारो' इति विधेयस्य कथनात्।

विधेयस्य पदान्तरेण समासरूपमविमृष्टविधेयांशमुदाहरति—'विशन्ति विशिखप्राया' इत्यादि। कटाक्षाः नारीणां वक्राः विलासमयदृष्टयः कामिनां कामुकानां हृदि हृदये विशिखैः बाणैः प्रायाः बाहुल्येन तत्तुल्या इति भावः विशन्ति प्रविशन्ति। अत्र कटाक्षानां विशिखत्वं विधेयम्। तत्तु 'प्राया' इत्यनेन समासाद् व्याहतम्। एवञ्चेदमविमृष्टविधेयांशस्योदाहरणमिति ॥१३॥

हिन्दी व्याख्या—अविमृष्टविधेयांश का लक्षण करते हैं—'अविमृष्ट' इत्यादि। अन्यपद के साथ समास करके विधेय को ढँक देने पर अविमृष्टविधेयांश नामक काव्यदोष होता है। नहीं विमिृष्ट (विचारित) है विधेय अंश जहाँ पर—यह इसकी अन्वर्थसंज्ञा है। विधेय का विमर्श दो प्रकार से होता है—विधेय का दूसरे पद के साथ समास न करना तथा उद्देश्य को कहने के बाद ही विधेय को कहना।

तात्पर्य यह है कि—वाक्य उद्देश्य-विधेयात्मक होता है (वाक्य के दो अंश होते हैं—उद्देश्य तथा विधेय)। रमणीयार्थक प्रतिपादक शब्दमय काव्य में उद्देश्य तथा विधेय के प्रयोग का निश्चित नियम है कि 'उद्देश्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्' उद्देश्य को विना कहे विधेय को नहीं कहना चाहिये अर्थात् उद्देश्य को कहने के बाद ही विधेय को कहना चाहिये। जहाँ विधेय का कथन

पहले हो जाता है तथा उद्देश्य को विधेय के बाद कहा जाता है, वहाँ विधेय का विमर्श न होने के कारण अविमृष्टविधेयांश नामक काव्यदोष होता है। विधेय के विमर्श के सन्दर्भ में दूसरा नियम है कि—विधेय का किसी दूसरे पद के साथ समास नहीं करना चाहिये। वाक्य में विधेयांश की प्रधानता होती है। यह प्रधानता तभी सिद्ध हो सकती है, जब विधेय का दूसरे पद के साथ समास न किया जाय। दूसरे पद के साथ समास कर देने पर उसकी प्रधानता नष्ट हो जाती है तथा आपाततः वह उद्देश्य जैसा प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार वहाँ विधेय का अविमर्श तथा अविमृष्टविधेयांश नामक काव्यदोष हो जाता है।

अविमृष्टविधेयांश के इन दोनों स्थितियों में प्रथम—(उद्देश्य के पूर्व विधेयकथनरूप) अविमृष्टविधेयांश का उदाहरण है—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः' इत्यादि श्लोक। यहाँ 'अयम्' उद्देश्य है तथा 'न्यक्कारः' विधेय है। उद्देश्य (अयं) के पहले विधेय (न्यक्कार) का कथन किया गया है, अतः यहाँ अविमृष्टविधेयांश नामक दोष होता है।

विधेय का पदान्तर के साथ समासरूप द्वितीय अविमृष्टविधेयांश का उदाहरण देते हैं—'विशन्ति विशिखप्राया' इत्यादि। 'कटाक्ष (नारियों की टेढी विलासमयी दृष्टियाँ) कामुकों के हृदय में बाण के समान प्रवेश कर रही हैं।' यहाँ कटाक्षों में विशिखत्व का प्रतिपादन (विशिख) विधेय है। 'विशिख' का 'प्रायाः' के साथ समास कर देने के कारण उसकी विधेयता नष्ट हो जाती है तथा उसकी प्रतीति उद्देश्यवत् होने लगती है। अतः यह अविमृष्टविधेयांश दोष का उदाहरण है ॥१३॥

अपराधीन इत्यादि विरुद्धमतिकृन्मतम्।
अन्यसङ्गतमुत्तुङ्गहारशोभिपयोधरौ ॥१४॥

संस्कृत व्याख्या—विरुद्धमतिकृल्लक्षयति—'अपराधीन' इत्यादि। करोतीति कृत्, विरुद्धा विपरीता वक्त्रभिप्रायानुकूला मतिः बुद्धिः ज्ञानमिति विरुद्धमतिस्तस्याः कृत् विरुद्धमतिकृदिति। यत्रोभयार्थप्रतिपादके शब्दे एकमर्थमादाय वक्त्रा

तत्प्रयोगः क्रियते किन्तु श्रोतुर्मनसि तदर्थान्तरस्य प्रतीतिर्जायत इति तत्र वक्त्रभिप्रायविरुद्धार्थप्रतिपादनाद् विरुद्धमतिकृन्नामको दोषो भवति। वक्त्रभिप्रायाननुकूलार्थान्तरप्रतिपादकत्वं विरुद्धमतिकृन्वमिति तल्लक्षणम्।

विरुद्धमतिकृदुदाहरति--अपराधीन इति। अत्र 'परतन्त्रः पराधीनः' इति कोषवचनात् पराधीनस्य परतन्त्रोऽर्थः। 'न पराधीनः' इति नञ्समासात् (अपराधीनः) स्वतन्त्रोऽर्थो वक्त्राभिप्रैतः। किन्तु 'अपरस्यान्यस्य अधीनः' इति षष्ठीतत्पुरुषसमासात् परतन्त्ररूप एवार्थ आयात इति वक्त्रभिप्रायविरुद्धमतेरुत्पादकत्वादिदं विरुद्धमतिकृद्दोषस्योदाहरणमिति स्पष्टम्।

अन्यसङ्गतं लक्षयति—अन्यसङ्गतमित्यादि। अन्येन सङ्गतमिति तृतीयातत्पुरुषसमासादस्य स्वरूपं स्पष्टम्। यस्य पदस्य येन पदेन सह सम्बन्धोऽभिप्रेतस्तस्य तदितरेण पदेन सम्बन्धे सति अन्यसङ्गतं नाम काव्यदोषो जायत इति। एवञ्चान्वयस्य विलम्बेन कष्टत्वेन च जायमानत्वाद् विलम्बेनार्थप्रतीतिरिति तद्दूषकताबीजम्।

अस्योदाहरणं यथा—'उत्तुङ्गहारे'त्यादि। उत्तुङ्गौ च हारशोभिनौ च तौ पयोधरौ इत्यभिप्रायात् उत्तुङ्गपदस्य पयोधरपदेन सम्बन्धो वक्त्राभिप्रेतः किन्तु आपाततो हारपदेन तत्सम्बन्धः प्रतीयत इति अन्यसङ्गतस्य दोषस्योदाहरणमिदम् ॥१४॥

हिन्दी व्याख्या—विरुद्धमतिकृत् का स्वरूप प्रतिपादित किया है—'अपराधीन' इत्यादि। विरुद्ध, वक्ता के अभिप्राय के विपरीत (अननुकूल) मति बुद्धि को जो उत्पन्न करे, वहाँ 'विरुद्ध मति पैदा करने वाला' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'विरुद्धमतिकृत्' नामक काव्यदोष माना जाता है। जहाँ कोई शब्द दो अर्थों का प्रतिपादक होता है, उन दोनों अर्थों में से एक अर्थ को लेकर वक्ता उस शब्द का प्रयोग करता है किन्तु श्रोता उस दूसरे अर्थ को लेकर वक्ता के अभिप्राय के विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करता है, वहाँ विरुद्धमतिकृत् दोष होता है। वक्ता के अभिप्राय के अननुकूल अर्थान्तरप्रतिपादकत्व विरुद्धमतिकृत् का लक्षण है।

इसका उदाहरण है—'अपराधीन'। 'परतन्त्रः पराधीनः' इस कोषवचन के अनुसार पराधीन का अर्थ होता है—परतन्त्र। इस पराधीन पद का 'न पराधीनः' इस व्युत्पत्ति में जब नञ्तत्पुरुष समास किया जाता है, तब इसका अर्थ हो जाता है—स्वतन्त्र। अपराधीन पद से स्वतन्त्र अर्थ ही वक्ता को अभिप्रेत है। किन्तु 'अपरस्य अधीनः' इस षष्ठीतत्पुरुष समास के कारण 'दूसरे के अधीन' अर्थ की प्रतीति होने से पराधीनरूप अर्थ की फलतः प्राप्ति होने से इस पद में वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ की प्रतिपादकता आ जाती है। इस प्रकार यह विरुद्धमतिकृत् दोष का उदाहरण बन जाता है।

अन्यसङ्गत का स्वरूप बतलाते हैं—'अन्यसङ्गतम्' इत्यादि। 'अन्य से सङ्गत' इस अर्थ से इसका स्वरूप स्पष्ट है। जिस पद का जिसके साथ सम्बन्ध अभिप्रेत है, उसका किसी दूसरे पद के साथ सम्बन्ध हो जाने पर अन्यसङ्गत नामक काव्यदोष होता है। इस प्रकार अन्वय के विलम्ब अथवा कष्ट से होने के कारण अर्थप्रतीति में भी विलम्ब होना इसकी दूषकता का बीज है।

इसका उदाहरण जैसे—'उत्तुङ्गहार' इत्यादि। 'उत्तुङ्ग (ऊँचे) तथा हार से शोभायमान पयोधर (स्तन)' इस अभिप्राय से उत्तुङ्गपद का पयोधर के साथ सम्बन्ध वक्ता को अभीष्ट है किन्तु आपाततः हारपद के साथ उसके सम्बन्ध की प्रतीति हो रही है अतः अन्यसङ्गत दोष का यह उदाहरण है ॥१४॥

वाक्यदोषान्नाह—

रसाद्यनुचिते वर्णे प्रतिकूलाक्षरं विदुः।
न मामङ्गद! जानासि रावणं रणदारुणम् ॥१५॥

संस्कृत व्याख्या—पददोषान्प्रतिपाद्य सम्प्रति वाक्यदोषान् प्रतिपादयन् प्रथमं प्रतिकूलाक्षरं लक्षयन्नाह—'रसाद्यनुचिते' इत्यादि। रस्यते आस्वाद्यतेऽसाविति रसः काव्यात्मभूतः, आदिना भाव-रसाभास-भावाभास-भावोदय-भावशान्ति-भावसन्धि-भावशबलतानां ग्रहणम्। तेषां रसभावादीनामनुचित प्रतिकूले

वर्णे प्रतिकूलानि विपरीतानि रसव्यक्तावसहायकान्यक्षराणि यस्मिंस्तदिति प्रतिकूलाक्षरं नाम काव्यदोष इति विदुः काव्यशास्त्रिभिः प्रतिपादितमिति ।

विभिन्नेषु रसेषु विभिन्नाः वर्णास्तद्व्यञ्जकत्वेन प्रसिद्धाः सन्ति । यथा—माधुर्यव्यञ्जकवर्णाः शृङ्गाराद्यनुकूलाः वीररौद्रादौ च प्रतिकूला भवन्ति । एवमेव ओजोगुणव्यञ्जका वर्णाः वीररौद्राद्यनुकूलाः शृङ्गारादिप्रतिकूलाश्च भवन्ति । एवं वर्णानां गुणव्यञ्जकता प्रतिपादिताऽस्ति । रसगुणयोरन्वयव्यतिरेकात् रसव्यञ्जकतापि वर्णानां सिद्धैव । विवक्षितरसव्यञ्जकताप्रतिकूलानामक्षराणां प्रयोगे सति प्रतिकूलाक्षरं काव्यदोष इति ।

प्रतिकूलाक्षरमुदाहरति—'न मामङ्गद !' इत्यादि 'हे अङ्गद ! बालिपुत्र ! त्वं रणे युद्धे दारुणं भयङ्करं मां रावयति शत्रून् तं रावणं लङ्केश्वरं न नहि जानासि तत्त्वतो वेत्सि ।' अङ्गदं प्रति रावणस्योक्तिरियम् । अत्र रावणेन क्रोधस्य प्रदर्शनात् क्रोधस्थायिभावो रौद्रो रस । वीर इति केचित् । रौद्रे वीरे वा परुषवर्णानामेव प्रयोग उचितो भवति । अत्र न तथा वर्णा इति प्रतिकूलाक्षरत्वम् ।

(वस्तुतस्त्वत्र नास्ति प्रतिकूलाक्षरता । रावणं रणदारुणमित्यत्र रकारणकारयोः प्रयोगात् । रकारस्यौजोगुणव्यञ्जकत्वं णकारस्य श्रुतिकटुत्वं च प्रसिद्धम्) ॥१५॥

हिन्दी व्याख्या—पददोषों का प्रतिपादन करके वाक्यदोषों का प्रतिपादन करते हुए पहले प्रतिकूलाक्षर का स्वरूप बतलाते हैं—रसाद्यनुचिते' इत्यादि । रस है—आस्वादरूप काव्य की आत्मा । आदिपद से भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि एवं भावशबलता का ग्रहण होता है । उन रसभावादि के अनुचित (प्रतिकूल) वर्णों का प्रयोग होने पर 'प्रतिकूल (विपरीत) अर्थात् रसाभिव्यक्ति में सहायक न होने वाले वर्णों का प्रयोग हो जिसमें'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रतिकूलाक्षर नामक काव्यदोष काव्यशास्त्रियों के द्वारा माना गया है ।

विभिन्न रसों में विभिन्न प्रकार के वर्ण उनके व्यञ्जक के रूप में प्रतिपादित हैं। माधुर्यगुण के व्यञ्जकवर्ण शृङ्गारादि रसों के अनुकूल एवं वीररौद्रादि के प्रतिकूल माने गये हैं। इसी प्रकार ओजोगुण के व्यञ्जक वर्ण वीररौद्रादि के अनुकूल तथा शृङ्गारादि के प्रतिकूल होते हैं। इस प्रकार वर्णों की गुणव्यञ्जकता तथा रस एवं गुण में अन्वयव्यतिरेक होने के कारण रसव्यञ्जकता भी सिद्ध है। विवक्षित रस के व्यञ्जकवर्णों के प्रतिकूल अक्षरों का प्रयोग होने पर प्रतिकूलाक्षर नामक काव्यदोष होता है, यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

इसका उदाहरण जैसे--'न मामङ्गद' इत्यादि। 'हे बालिपुत्र अङ्गद! तुम युद्ध में भयङ्कर मुझ रावण को नहीं जानते हो।' यह अङ्गद के प्रति रावण की उक्ति है। यहाँ रावण के द्वारा क्रोध का प्रदर्शन किया जा रहा है अतः क्रोधस्थायिभाव रौद्ररस है। कुछ लोग वीररस भी मानते हैं। रौद्र अथवा वीर--दोनों रसों में परुषवर्णों का प्रयोग उचित होता है। यहाँ परुषवर्णों का प्रयोग नहीं है--इसलिये यह प्रतिकूलाक्षर का उदाहरण है।

(वस्तुतः विचार करने पर यहाँ प्रतिकूलाक्षरता नहीं है। क्योंकि 'रावणं रणदारुणम्' में रकार एवं णकार का प्रयोग है। रकार को ओजोगुण व्यञ्जकता एवं णकार की श्रुतिकटुता प्रसिद्ध है।) ॥१५॥

यस्मिन्नुपहतो लुप्तो विसर्ग इति तत्तथा।
कुसन्धिः पटवागच्छ विसन्धिर्नृपतौ इमौ ॥१६॥

संस्कृत व्याख्या-उपहतलुप्तविसर्गतेति लक्षयन्नाह--'यस्मिन्नुपहते' इत्यादि। यस्मिन् वाक्ये विसर्गं उपहतः स उपहतविसर्गः, यत्र तु विसर्गो लुप्तः स लुप्तविसर्ग इति। उपहतत्वं स्वरूपनष्टत्वं रूपान्तरप्राप्तिरिति। विसर्गस्य रूपान्तरता तु ओत्वादिरूपेण परिणतिः। एवं यत्र भूयो भूयो विसर्गस्यौत्वं सञ्जायते तत्र उपहतविसर्गो नाम काव्यदोषः। यत्र तु व्याकरणनियमानुसारं भूयो भूयो विसर्गस्य लोप एव जायते तत्र लुप्तविसर्गो नाम काव्यदोष इति। उभयत्रापि विरसतासम्पादनमेव दूषकताबीजमिति।

अनयोरुदाहरणं यथा–'यस्मिन्' इत्यादिपङ्क्तिरेव। तत्र 'उपहतो लुप्तो' इति उपहतविसर्गतायारुदाहरणम्, विसर्गस्यौत्वरूपेण परिणतेः। 'विसर्ग इति' इत्यत्र विसर्गस्य लुप्तत्वात् लुप्तविसर्गतेति। विसर्गस्य बहुशः उपहतत्वे लुप्तत्वे चानयोः दोषयोरुद्भावना, न तु सकृत्प्रयोगे। बहुशः प्रयोगे एव सहृदयहृदयोद्वेजकतायारुत्थानात्। एवञ्च 'उपहतो लुप्तो' इत्यत्रौत्वस्य द्विप्रयोगाद् भवतु नामास्य दोषस्य प्रतीतिः किन्तु 'विसर्ग इति' इत्यत्र सकृदेव प्रयोगात् नहि लुप्तविसर्गदोषत्वम्। एवं हि लुप्तविसर्गतायाः सर्वत्र सम्भवात्। अतएव––'गता निशा इमा बाले!' इति लुप्तविसर्गतायाः उचितमुदाहरणम्। एवमेव––'धीरो वरो नरो याति' इति उपहतविसर्गतापि युक्ता।

कुसन्धि-विसन्धी लक्षयन्नाह—'कुसन्धिः' इत्यादि। कुत्सितः सन्धिः कुसन्धिः। कुत्सितत्वञ्चात्र सहृदयहृदयविरसतासम्पादनमेव। यत्र सन्धिमादाय सहृदयानां हृदये विरसतायाः प्रतीतिर्जायते तत्र कुसन्धिर्नाम दोषो भवति। क्लिष्टत्वेन, अश्लीलत्वेन च द्विधा कुसन्धिर्जायत इति। एकत्र क्लेशेन अपरत्र च विलम्बेनार्थप्रतीतिः कारणम्। यत्रानावश्यकरूपेण सन्धिः क्रियते तत्र सन्धौ ग्राम्यत्वप्रतीत्याऽश्लीलसन्धित्वं भवति तत्र कुसन्धिर्यथा—'पटवागच्छ' इति। अत्र 'हे पटो! आगच्छ' इति विवक्षितम्। किन्तु सन्धिना सम्बोधनस्याप्रतीतेः अर्थप्रतीतौ विलम्बो जायत इति कुसन्धेरुदाहरणमिदम्। क्लिष्टकुसन्धिर्यथा—'उर्व्यसावत्र तर्वाली' इत्यादि।

विगतः सन्धिर्यत्र स विसन्धिः। यत्र सत्यपि व्याकरणनियमे छन्दोभङ्गदृष्ट्या कविना सन्धिर्न क्रियते यद्वा कृतोऽपि सन्धिः यत्र सन्धिरिव न प्रतीयते, तत्र विसन्धिर्नाम काव्यदोषो भवति। यथा—'नृपती इमौ' इति। अत्र प्राप्तोऽपि दीर्घसन्धिः 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति प्रगृह्यसंज्ञाविधायकेन सूत्रेण बाध्यते 'प्लुतप्रगृह्याऽचि नित्यम्' इत्यनेन सूत्रेण प्रकृतिभावश्च जायत इति सत्यपि प्रकृतिभावे सन्धौ सन्धिरिव न प्रतीयत इति विसन्धेरुदाहरणमिदम्। सर्वथा विसन्धेरुदाहरणं यथा—'वासवा शामुखे भाति इन्दुश्चन्दनबिन्दुवत्।' अत्र 'भाति इन्दुः' इत्यत्र प्राप्तोऽपि दीर्घसन्धिर्न कृत इति विसन्धिः। एनेन कवेरशक्तित्वं प्रतीयते ॥१६॥

हिन्दी व्याख्या—उपहतविसर्ग एवं लुप्तविसर्ग का स्वरूप बतलाते हुये कहा है—'यस्मिन्नुपहतो' इत्यादि। जिस वाक्य में विसर्ग उपहत हो, उसे उपहत-विसर्ग तथा जहाँ विसर्ग लुप्त हो उसे लुप्तविसर्ग कहते हैं। उपहत का अर्थ है—स्वरूप का नष्ट होना, रूपान्तर को प्राप्त हो जाना। विसर्ग की रूपान्तरता ओत्वादि रूप में परिणति है, इस प्रकार जहाँ अनेक बार विसर्ग का ओत्व हो जाता है, वहाँ उपहत विसर्ग नामक काव्यदोष माना जाता है। जहाँ व्याकरण के नियमानुसार अनेक बार विसर्ग का लोप हो जाता है, वहाँ लुप्तविसर्ग नामक दोष होता है। इन दोनों का दूषकताबीज है—विरसता सम्पादन।

इनका उदाहरण जैसे—'यस्मिन्' इत्यादि पंक्ति है। इनमें उपहतविसर्गता का उदाहरण है—'उपहतो लुप्तो'। क्योंकि उपहतो तथा लुप्तो—इन दोनों पदों में विसर्ग का ओत्व हो गया है। लुप्तविसर्ग का उदाहरण जैसे—'बिसर्ग इति'। यहाँ विसर्ग का लोप हो गया है। अनेक बार विसर्ग के ओत्व तथा लोप होने में इन दोषों का उद्भावन होता है, एक बार ओत्व या लोप होने में नहीं। क्योंकि अनेक बार ओत्व या लोप होने में ही सहृदयहृदयोद्वेजकता का उत्थान होता है। इस प्रकार 'उपहतो लुप्तो' में दो बार ओत्व होने से उपहतविसर्गता हो जायेगी किन्तु 'विसर्ग इति' में केवल एक बार विसर्ग का लोप होने पर लुप्तविसर्गता कैसे होगी ? क्योंकि इस प्रकार की लुप्तविसर्गता तो सर्वत्र सम्भव है। अतएव—'गता निशा इमा बाले !' यह लुप्तविसर्गता का उचित उदाहरण है। क्योंकि 'गताः निशाः इमाः' में सब जगह विसर्ग का लोप हुआ है। इसी प्रकार—'धीरो वरो नरो याति' यह उपहतविसर्गता का उपयुक्त उदाहरण है क्योंकि यहाँ अनेक बार विसर्ग का ओत्व हुआ है।

कुसन्धि तथा विसन्धि का स्वरूप बतलाते है—'कुसन्धिः' इत्यादि। कुत्सित सन्धि कुसन्धि है। कुत्सितत्व से सहृदयहृदयविरसतासम्पादन ही अभीष्ट है। जहाँ सन्धि को लेकर सहृदयों के हृदय में विरसता की प्रतीति होती है, वहाँ कुसन्धि नामक काव्यदोष होता है। कुसन्धि दो प्रकार से होती है—अश्लीलरूप में तथा क्लिष्टरूप में। एक में विलम्ब से तथा दूसरे में क्लेश से अर्थप्रतीति कारण है। जहाँ अनावश्यक रूप से सन्धि की जाती है, वहाँ ग्राम्यत्वप्रतीति के

कारण अश्लीलसन्धित्व आ जाता है। अश्लीलरूप कुसन्धि का उदाहरण जैसे—'पटवागच्छ'। 'हे पटो! आगच्छ' इस रूप में विवक्षित होने पर भी समास कर देने के कारण सम्बोधन की प्रतीति न होने से अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होता है। इसलिये यह कुसन्धि का उदाहरण है। क्लिष्ट सन्धि का उदाहरण है—'उर्व्यसावत्र तर्वाली' इत्यादि।

जिसमें सन्धि न हो, उसे विसन्धि कहते हैं। जहाँ व्याकरण के सन्धिविधायक नियमों के जागरूक रहते हुये भी छन्दोभङ्ग आदि की दृष्टि से सन्धि न किया जाय अथवा सन्धि रहने पर भी सन्धि जैसी प्रतीति न हो, वहाँ विसन्धि नामक काव्यदोष माना जाता है। जैसे—'नृपती इमौ।' यहाँ दीर्घ सन्धि प्राप्त है, किन्तु उसे बाँध कर 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा तथा 'प्लुतप्रगृह्याऽचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव हो जाता है। प्रकृतिभाव यद्यपि सन्धि है तथापि असन्धि जैसी ही स्थिति रह जाने के कारण यह विसन्धि का उदाहरण है। सर्वथा विसन्धेरुदाहरणं यथा—'वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनबिन्दुवत्।' यहाँ भाति तथा इन्दु में नियमतः प्राप्त दीर्घ नहीं की गई है। इससे कवि की अशक्ति की प्रतीति होती है ॥१६॥

हतवृत्तमनुक्तोऽपि च्छन्दोदोषश्चकास्ति चेत्।
विशाललोचने! पश्याऽम्बरं तारातरङ्गितम् ॥१७॥

संस्कृत व्याख्या—हतवृत्तं लक्षयति—'हतवृत्तम्' इत्यादि। अनुक्त. छन्दःशास्त्रेऽप्रतिपादितोऽपि छन्दसो वृत्तस्य दोषः चेत् परिचकास्ति तदा हतं वृत्तं यस्मिंस्तदिति हतवृत्तं नाम दोषः। छन्दःशास्त्र प्रतिपादितलक्षणदृष्ट्या सम्यक्त्वेऽपि अश्राव्यत्वं प्रतीयते तत्र हतवृत्तं नाम काव्यदोषः। रसाननुगुणछन्दोविधानम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघुश्चापि हतवृत्ततैव।

हतवृत्ततामुदाहरति—'विशाललोचने' इत्यादि। हे विशाले दीर्घे लोचने यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, ताराभिः नक्षत्रैः तरङ्गितं फेनिलम् अम्बरमाकाशं पश्यावलोकय। अत्रानुष्टुप् वृत्तम्। अनुष्टुपि सर्वत्राष्टमेऽक्षरे यतिर्भवति किन्तु प्रकृतेऽस्मिन् तृतीयपादस्याष्टमे वर्णे यतिर्न प्रतीश्रतेऽपि तु उच्चारणेऽश्राव्यत्वस्यैवानुभूतिर्जायत इति

छन्दःशास्त्रदृष्ट्या सम्पन्नेऽप्यस्मिन् छन्दसि हतवृत्तताऽस्तीति हतवृत्तस्योदाहरणम् ।

रसाननुगुणछन्दोविधानस्योदाहरणं यथा--'अयि मयि मानिनि मा कुरु मानम् । इदं वृत्तं हास्यरसानुकूलम् । अप्राप्तगुरुभावान्तलघुर्यथा--'विकसित भारसहकारहारिपरिमल एष समागतो वसन्तः ।' इति ॥१७॥

हिन्दी व्याख्या—हतवृत्त का स्वरूप बतलाते हैं—'हतवृत्तम्' इत्यादि । अनुक्तः (छन्दःशास्त्र में अप्रतिपादित) भी छन्दःसम्बन्धो दोष जहाँ प्रतीत हो वहाँ हतवृत्त नामक दोष होता है । छन्दःशास्त्र में प्रतिपादित छन्द के लक्षण की दृष्टि से ठीक होने पर भी जहाँ पढ़ने में छन्द कुछ खटके (अश्राव्यत्व हो), उसे हतवृत्त नामक काव्यदोष कहते हैं । प्रतिपाद्य रस के अनुकूल छन्द का विधान न करना तथा अन्तलघु का गुरुभाव को प्राप्त न होना आदि भी हत-वृत्तता ही हैं ।

हतवृत्त का उदाहरण देते हैं—'विशाललोचने' इत्यादि । 'हे विशाल नेत्र वाली (नायिके !) ताराओं से तरङ्गित आकाश को देखो ।' यहाँ अनुष्टुप् छन्द है । अनुष्टुप् छन्द में आठवें वर्ण पर यति होता है, किन्तु यहाँ तृतीयचरण के आठवें अक्षर पर यति प्रतीत नहीं होती । इसका सम्बन्ध चतुर्थ चरण के प्रथम वर्ण से हो जाने के कारण उच्चारण में थोड़ा-सा खटका आता है तथा अश्राव्यता आ जाती है । इस प्रकार यह हतवृत्त का उदाहरण है । रसाननुगुण छन्दोविधान का उदाहरण है—'अयि मयि मानिनि मा कुरु मानम्' यह छन्द हास्यरस के अनुकूल है । अप्राप्तगुरुभावान्तलघु का उदाहरण है—'विकसित सहकारभार-हारिपरिमल एष समागतो वषन्तः ।' यहाँ 'हारि' के 'रि' को गुरुभाव प्राप्त होना चाहिये किन्तु नहीं हो रहा है । अतः अप्राप्तगुरुभावान्तलघु का यह उदाहरण हुआ ॥१७॥

न्यूनं त्वत्खड्गसम्भूतयशःपुष्पं नभस्तटम् ।
अधिकं भवतः शत्रून् दशत्यसिलताफणी ॥१८॥

संस्कृत व्याख्या—न्यूनदोषमाह—'न्यूनम्' इत्यादि । स्वरूपं तु नामत एव स्पष्टम् । यत्रैकं पदमक्षरं वा न्यूनं भवति तत्र न्यूनं-नाम दोष इति । अस्योदाहरणं

यथा—'त्वत्खड्ग' इत्यादि । कस्यचिद्राज्ञो वर्णनमिदम्—'हे राजन् ! तव भवतः खड्गेनासिना सम्भूतमुत्पन्नं यशः कीर्तिरेव पुष्पं कुसुमं यत्र तदेवं नभस्तटमाकाशं सञ्जातम् ।' अत्र रूपकालङ्कारः । एवञ्च यशसि पुष्पस्यारोपः खड्गे च लताया इति । खड्गे लताया आरोपणं विना यशसि पुष्पस्यारोपो नैव भवितुमर्हति । यशसि पुष्पस्यारोपणं कृतम्, किन्तु खड्गे लतायाः आरोपणं नास्तीति खड्गे लतारोपणं न्यूनम् । अतोऽत्र लतापदं न्यूनमिति । वस्तुतस्तु नात्र दोषः, यशसि पुष्पारोपणस्य शाब्दत्वेऽपि खड्गे लतारोपणस्यार्थत्वात् । एवञ्चात्रैकदेशविवर्तिरूपकमिति । यथोक्तं दर्पणे—'यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।' इति । अतएव न्यूनपदतायाः स्पष्टमुदाहरणं यथा—'यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा ।' अत्र तयेति पदं न्यूनम् ।

अधिकपदमाह—'अधिकम्' इत्यादि । इदमपि नाम्नैव स्पष्टम् । यत्रानावश्यकरूपेणाधिकपदस्य प्रयोगो जायते तेन पदेनार्थे किमपि वैशिष्ट्यं न प्रतिपाद्यते तत्राधिकपदं नाम काव्यदोषो भवति । अस्योदाहरणं यथा—'भवतः शत्रून्' इत्यादि । इदमपि राज्ञो वर्णनम् । 'हे राजन् । (भवतः) असिलता खड्गलतैव फणी सर्पः भवतः शत्रून् अरीन् दशति । अत्रासौ फणिन आरोपस्तत्र लतापदमधिकम् । वाक्यार्थप्रतिपादने लतापदस्य न किमपि वैशिष्ट्यमिति, अधिकपदतायाः उदाहरणमिदम् ॥१८॥

हिन्दी व्याख्या—न्यूनदोष का स्वरूप बतलाते हैं—'न्यूनम्' इत्यादि । इसका स्वरूप इसके नाम से ही स्पष्ट है । जहाँ एक पद या एक अक्षर कम हो, वहाँ न्यूनपद नामक दोष होता है । इसका उदाहरण जैसे—'त्वत्खड्ग' इत्यादि । यह किसी राजा का वर्णन है । 'हे राजन् ! आपके खड्ग से उत्पन्न कीर्तिरूपी पुष्प से आकाश व्याप्त है ।' यहाँ रूपक अलङ्कार है । यश में पुष्प का के आरोप है तथा खड्ग में लता का आरोप अभीष्ट है । खड्ग में लता के आरोप बिना कीर्ति में पुष्प का आरोप नहीं हो सकता । यश में पुष्प का आरोप तो कर दिया किन्तु खड्ग में लता का आरोप शब्दतः उपात्त नहीं है । अतः यहाँ लतापद न्यून है ।

वस्तुतः यहाँ न्यूनत्व दोष नहीं है, क्योंकि यश में पुष्प के आरोप के समान खड्ग में लता का आरोप भले ही शब्दोपात्त न हो किन्तु आर्थ आरोप तो है ही। इस प्रकार यहाँ एकदेशविवर्तिरूपक हो जायेगा तथा न्यूनदोष की उद्भावना नहीं होगी। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने एकदेशविवर्तिरूपक का लक्षण कहा है--'यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत्'। अर्थात् जहाँ कोई आरोप अर्थोपात्त होता है। उसे एकदेशविवर्तिरूपक कहते हैं। अतएव न्यूनपदता का उदाहरण है—'यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा।' यदि उस (नायिका) ने मेरे ऊपर दृष्टि डाल दिया तो मुझे इन्द्रपद से क्या (लाभ)? इसमें 'तया' (उसने) पद न्यून है।

अधिकपद का स्वरूप बतलाते हुये कहा है—'अधिकम्' इत्यादि। यह भी नाम से स्पष्ट है। जहाँ अनावश्यकरूप से अधिक पद का प्रयोग होता है किन्तु उससे वाक्यार्थ में कोई वैशिष्ट्य नहीं आता, उसे अधिकपद नामक काव्यदोष कहते हैं। इसका उदाहरण जैसे—'भवतः शत्रून्' इत्यादि। 'हे राजन्! (आपका) असिलता (तलवार) रूपी सर्प आपके शत्रुओं को डँस रहा है।' यहाँ असि (तलवार) में फणी (सर्प) का आरोप है। असि का ही अर्थ है खड्ग, इसमें लतापद की कोई उपयोगिता नहीं है। वाक्यार्थ प्रतिपादन में लतापद किसी वैशिष्ट्य का आधान नहीं करता। अतः यह अधिकपदता का उदाहरण है ॥१८॥

कथितं पुनरुक्ता वाक् श्यामाब्जश्यामलोचना।
विकृतं दूरविकृतैरैयरुः कुञ्जराः पुरम् ॥१९॥

संस्कृत व्याख्या—कथितं लक्षयन्नाह—'कथितमि'त्यादि। पुनः पुनः भूयो भूयः उक्ता वाक् कथितं कथितपदता नाम दोष इति। यत्रैकस्य शब्दस्यानेकवारं यथा स्यात्तथा प्रयोगः क्रियते किन्तु तदर्थो विशेषो न भवति तत्र कथितपदता नाम पुनरुक्तिः दोष इति। अस्योदाहरणं यथा—'श्यामाब्जे'त्यादि। श्यामञ्च तदब्जमिति श्यामाब्जं नीलकमलम्, तद्वत् श्यामे कृष्णे लोचने नेत्रे यस्याः सा। अत्रैकेनैव श्यामपदेनाब्जलोचनयोरुभयोरपि श्यामत्वप्रतिपादनात् द्वितीयं श्यामपदं पुनरुक्तमिति कथितपदता।

विकृतं लक्षयति—'विकृतम्' इत्यादि । दूरमत्यधिकं यथा स्यात्तथा विकृतैः विकारं प्राप्तैः पदैः विकृतं नाम दोष इति । अर्थात् यत्र प्रकृत्या (धातुना) अनेकधा अनेकसूत्रप्रयोगानन्तरमनेकरूपेण विकृते सति निष्पन्नतां गतानां शब्दानां प्रयोगे विकृत (पदता) नाम काव्यदोषः समुपजायत इति । अस्योदाहरणं यथा—'ऐयरुः' इत्यादि । 'कुञ्जराः हस्तिनः पुरं नगरम् ऐयरुः प्रापुः' इति वाक्ये ऐयरुः पदम् ऋधातोरनेकैः सूत्रैरनेकधा विकृतं सत्प्रयुक्त इति विकृतपदतायाः उदाहरणं जायते ।

वस्तुतस्तु नायं दोषः । प्रयोगदशायामर्थप्रतीतिदशायाञ्चाडागम-झि-शप्-श्नु-द्वित्वोग्दत्व-रलोपाभ्यासकार्येत्वेयङ्जुस्-गुण-वृद्ध्यादीनां प्रक्रियाणां प्रतीत्यभावात् । केवलं गत्यर्थकाद् ऋधातोः लङि प्रथमपुरुषबहुवचनरूपस्यैव ज्ञानेन प्रयोगे प्रतीतौ च न काचित्क्षतिरिति तस्मात् ॥१९॥

हिन्दी व्याख्या—कथित का लक्षण करते हुये कहा है—'कथितम्' इत्यादि । पुनः पुनः कहे गये 'वाक्' शब्द को कथित (पदता) नामक दोष कहा जाता है । जहाँ एक शब्द का अनेक बार प्रयोग हों किन्तु उसके अर्थ में कोई अन्तर न हो, तब उस उनरुक्ति को कथित (कथितपदता) नामक काव्यदोष कहते हैं । इसका उदाहरण जैसे—'श्यामाब्ज' इत्यादि । 'नीलकमल के समान (काली) आँखों वाली' इस वाक्य में श्यामपद दो बार कहा गया है—अब्ज के साथ तथा लोचन के साथ । एक ही श्यामपद कमल में श्यामता का प्रतिपादन करता हुआ लोचन में भी श्यामता का प्रतिपादन कर सकता है । द्वितीयश्यामपद किसी विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं कराता, अतः यह पुनरुक्तिरूप कथित(पदता) दोष का उदाहरण होगा ।

विकृत का लक्षण करते हुये कहा है—'विकृतम्' इत्यादि । अधिकरूपों में विकृत पदों के प्रयोग होने पर विकृत (पदता) नामक काव्यदोष होता है । अर्थात् जहाँ प्रकृति (धातु) से अनेक सूत्रों के प्रयोग के अनन्तर अनेकरूप में विकृत होकर निष्पन्नता को प्राप्त होने वाले शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ विकृत (पदता) नामक दोष माना जाता है । इसका उदाहरण जैसे—'ऐयरुः'

इत्यादि। 'हाथियाँ नगर में आ गईं' इस वाक्य में क्रिया के रूप में प्रयुक्त 'ऐयरुः' पद ऋधातु से अनेक सूत्रों के प्रयोग के अनन्तर अनेक रूपों में विकृत होकर इस रूप को प्राप्त हुआ, अतः यह विकृतपदता का उदाहरण है।

वस्तुतः इसे दोष नहीं कह सकते, क्योंकि प्रयोगदशा में तथा अर्थप्रतीति की दशा में यह गत्यर्थक ऋधातु के लङ्लकार, प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप है, इतना ही ज्ञान होना आवश्यक है। अडागम, झि, शप्, श्लु, द्वित्व, अत्व, अभ्यासकार्य, इत्व, इयङ् जुस्, गुण्, वृद्धि आदि करने वाले सूत्रों तथा इनकी प्रक्रिया के ज्ञान की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, जो रसाभिव्यक्ति में किसी प्रकार की बाधा डाल सके ॥१९॥

पतत्प्रकर्षं हीनानुप्रासादित्वे यथोत्तरम्।
गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिरेषः समागतः ॥२०॥

संस्कृत व्याख्या—पतत्प्रकर्षं लक्षयन्नाह—'पतत्प्रकर्षम्' इत्यादि। यथोत्तरमुत्तरोत्तरं क्रमश इति भावः, हीनाः नीचैरागताः न्यूनतां गता इति अनुप्रासादयो यत्र तत्त्वे पतत्प्रकर्षम् इति। यत्र कविना रचना यथा अनुप्रासादित्वेन प्रारभ्यते न तथाऽन्ततो निर्वाह्यते, अपि तु बन्धत्वे न्यूनताऽऽयाति तत्र प्रकर्षस्य रचनोत्कर्षस्य पतनशीलत्वात् पतत् प्रकर्षं यस्मिंस्तदिति पतत्प्रकर्षं नाम काव्यदोष इति।

अस्योदाहरणं यथा—'गम्भीरारम्भे'त्यादि। 'गम्भीरो धीर आरम्भो यस्य स गम्भीरारम्भः, दम्भोलिः वज्रं पाणौ हस्ते यस्य स दम्भोलिपाणिः, गम्भीरारम्भश्चासौ दम्भोलिपाणिः स एषः इन्द्रः समागतः अत्रागत इति।' वाक्यमिदं यथाऽनुप्रासबन्धेन प्रारब्धं न तथाऽन्ततो निर्व्यूढमिति अनुप्रासनिष्ठपतत्प्रकर्षताया उदाहरणम् ॥२०॥

हिन्दी व्याख्या—पतत्प्रकर्ष का स्वरूप बतलाते हुये कहा है—'पतत्प्रकर्षं' इत्यादि। जहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर अनुप्रास आदि रचनाबन्ध में न्यूनता आती जाती है, वहाँ पतत्प्रकर्ष दोष होता है। अर्थात् कवि ने जिस प्रकार अनुप्रास आदि से रचना को प्रारम्भ किया हो किन्तु अन्ततः उसका निर्वाह कर सके, उसमें उत्तरोत्तर रचना के उत्कर्ष में हीनता आती जाय, वहाँ पतत्प्रकर्ष नामक काव्य-

दोष होता है। इसका उदाहरण देते हैं--'गम्भीरारम्भ' इत्यादि। गम्भीर (धीर अथवा गम्भीरतापूर्वक) युद्ध आरम्भ करने वाला यह हाथ में वज्र लिये आ गया।' इस वाक्य में 'गम्भीरारम्भदम्भोलि' इस अंश में अनुप्रास की छटा अच्छी है किन्तु यह अन्ततः नहीं चलती। अन्त में आकर यह रचना-क्रम शिथिल हो गया है, अनुप्रास का उत्कर्ष कम होता गया है। अतः यह पतत्प्रकर्ष का उदाहरण है ॥२०॥

समाप्तपुनरात्तं स्यादेष पीयूषभाजनम्।
नेत्रानन्दी तुषारांशुरुदेत्यम्बुधिबान्धवः ॥२१॥

संस्कृत व्याख्या--समाप्तपुनरात्तं लक्षयति--'समाप्तपुनरात्तम्' इत्यादि। एषः प्रतिपाद्यः समाप्तपुनरात्तं स्यात्। पूर्वं समाप्तं पश्चाच्च पुनः आत्तं गृहीतमिति समाप्तपुनरात्तं स्यात्। यत्र विशेषणान्युक्त्वा क्रियान्वयेन च शान्ताकाङ्क्षस्य विशेष्यवाचकपदस्य पुनः विशेषणान्तरैरन्वयार्थं ग्रहणं क्रियते तत्र समाप्तपुनरात्तमिति अर्थात् कविना विशेषणान्युक्त्वा विशेष्यपदमुक्तम्, ततश्च तेन विशेष्येण क्रियाया अन्वयः कृतः एवञ्चाकाङ्क्षायाः शान्तिः जाता। पुनश्च यदि कविना विशेषणानामादानं क्रियते तत्र समाप्तस्य पुनरात्तत्वात् समाप्तपुनरात्तत्वं नाम काव्यदोष इति।

तदुदाहरति--'पीयूषभाजनं नेत्रानन्दी'त्यादि। पीयूषस्यामृतस्य भाजनं पात्रम्, नेत्रे नयने आनन्दयति तच्छीलः, तुषाराः हिमकणाः अंशुषु किरणेषु यस्य स तथा च अम्बुधिः समुद्रस्तस्य बान्धवः बन्धुः एष चन्द्रः उदेति उदयाचलं याति। अत्र पीयूषभाजनं नेत्रानन्दीति विशेषणद्वयमुक्त्वा चोक्तं 'तुषारांशुः' इति विशेष्यम् उदेतीति क्रियान्वयेन शान्ताकाङ्क्षम्। पुनश्च अम्बुधिबान्धव इति तुषारांशुविशेषणमुक्तमिति समाप्तं च तद् विशेषणं पुनरात्तमिति समाप्तपुनरात्तस्योदाहरणमिदम् ॥२१॥

हिन्दी व्याख्या--समाप्तपुनरात्त का स्वरूप बतलाते हैं--समाप्तपुनरात्त' इत्यादि। इसे समाप्तपुनरात्त कहते हैं, जिसमें समाप्त को पुनः गृहीत किया जाय। जहाँ विशेषणों को कह कर क्रिया का अन्वय प्राप्त कर शान्त आकाङ्क्षा

वाले विशेष्यवाचकपद का पुनः अन्य विशेषणों के साथ अन्वयार्थ ग्रहण किया जाय, वहाँ समाप्तपुनरात्त होता है अर्थात् कवि विशेषणों को कहने के बाद विशेष्य को कहता है, उसके बाद क्रिया का अभिधान करता है। इस प्रकार वह पदसमूह निराकाङ्क्षता को प्राप्त हो जाता है। पुनः यदि विशेष्यवाचक पद के अन्य विशेषण दिये जाय, वहाँ समाप्तपुनरात्त नामक काव्यदोष हो जाता है।

इसका उदाहरण है--'पीयूषभाजनं नेत्रानन्दी' इत्यादि। 'अमृत धारण करने वाला, शीतल किरणों वाला तथा समुद्र का बन्धु यह चन्द्रमा उदित हो रहा है।' इस वाक्य में पीयूषभाजन तथा नेत्रानन्दी—इन दो विशेषणों को कहने के बाद कवि ने विशेष्य पद तुषारांशु का अभिधान कर उससे 'उदेति' क्रिया का सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। पुनश्च 'अम्बुधिबान्धव' इस विशेषण का अभिधान किया है। इस प्रकार यह समाप्तपुनरात्त दोष का उदाहरण होगा ॥२१॥

अर्धान्तरपदापेक्षिक्रीडानृत्येषु सस्मितम्।
मोघारम्भं स्तुमः शम्भुमर्धरम्भोरुविग्रहम् ॥२२॥

संस्कृत व्याख्या—अर्धान्तरपदापेक्षित्वं लक्षयति—'अर्धान्तरपदापेक्षो'-त्यादि। अन्यदर्धमर्धान्तरं तच्च तत्पदमिति तदपेक्षते तच्छीलम् अर्धान्तरपदापेक्षि यत्रार्धं पदं वाक्यान्तरघटकान्यदर्धमपेक्षते अन्यच्च अन्यदर्धमिति तत्रार्धान्तरपदापेक्षिनामकं काव्यदोषं भवति। अर्थाद् यत्र वाक्यस्य पूर्वार्धमुत्तरार्धस्थितं पदमपेक्षते, उत्तरार्धञ्च पूर्वार्धस्थितमन्यत्पदमपेक्षते यथार्धनारीश्वरत्वे भगवत शङ्करस्यार्धभागः पार्वत्या अर्धभागम्, पार्वत्याश्चार्धभागः शङ्करस्यार्धभागमपेक्षते तत्रार्थप्रतीतौ कष्टत्वात् अर्धान्तरपदापेक्षि नामको दोषो व्यवस्थापितः काव्यशास्त्रिभिरिति।

तदुदाहरति—अर्धान्तरपदापेक्षीत्यादि। अन्यत् स्वविग्रहाद् भिन्नमर्धमर्धभागेऽवस्थितं यत् पदं पार्वतीविग्रहस्थं चरणं तदपेक्षन्ते वाञ्छन्ति तच्छीलानि तानि क्रीडानृत्यानि लीलानर्तनानि ताण्डवादीनि तेषु मोघो निष्फल आरम्भो यत्नो यस्य तम्, यदा यदा भगवान् शम्भुः ताण्डवनृत्यासक्तो जायत तदा पार्वती

विग्रहविशिष्टं स्वकीयमर्धपदमपेक्षते मानवती च सा स्वपदं न संयोजयति तदा तदा तस्य क्रीडानृत्यारम्भो निष्फलो जायते तत्संयोजने च सस्मितमिषद्धास्य-युक्तं, जायत इति, एवञ्च अर्धम् अर्धमितं रम्भोर्व्याः पार्वत्याः विग्रहं शरीरं यस्य तम्, अर्धनारीश्वरत्वेन प्रसिद्धमिति शम्भुं भगवन्तं शङ्करं स्तुमः प्रणमामः। अत्राधान्तिरपदापेक्षीत्यादि पूर्वार्धमुत्तरार्धस्थितं मोघारम्भमपेक्षते तदन्तरे च सस्मितमित्यनेन कष्टान्वयादर्थप्रतीतौ कष्टत्वमिति। मोघारम्भमित्याद्युत्तरार्धञ्च पूर्वार्धस्थितं सस्मितपदमपेक्षत इत्यधान्तिरपदापेक्षिणः उदाहरणमिदम् ॥२२॥

हिन्दी व्याख्या—अधान्तिरपदापेक्षि के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—'अधान्तिरपदापेक्षि' इत्यादि। जहाँ वाक्य का पूर्वार्ध उत्तरार्धस्थित किसी पद की अपेक्षा रखता हो तथा उत्तरार्ध पूर्वार्धस्थित किसी पद की अपेक्षा रखता हो, जैसे अर्धनारीश्वर की स्थिति में भगवान् की शरीर का आधा हिस्सा पार्वती की शरीर के आधे हिस्से की तथा पार्वती की शरीर का आधा हिस्सा शङ्कर की शरीर के आधे हिस्से की अपेक्षा रखता है, तो अन्वय की कष्टता के कारण अर्थप्रतीति में भी कष्ट होने से वहाँ अधान्तिरपदापेक्षि नामक काव्यदोष माअघण जाता है।

इसका उदाहरण जैसे—'अधान्तिरपदापेक्षि' इत्यादि श्लोक। 'अपने अधान्तर (पार्वतीविग्रहस्थ) पद की अपेक्षा रखने वाले क्रीडानृत्यों में निष्फल प्रयत्न वाले, अधान्तिर पद को पाकर मन्द मुस्कान करने वाले, अर्धनारीश्वर वाले शम्भु (भगवान् शंकर) की हम लोग स्तुति करते हैं।' इस वाक्य का पूर्वार्ध उत्तरार्ध में स्थित मोघारम्भ की तथा उत्तरार्ध पूर्वार्धस्थित सस्मित पद की अपेक्षा रखता है। इस प्रकार यह अधान्तिरपदापेक्षि नामक दोष का उदाहरण हुआ ॥२२॥

अभवन्मतयोगः स्यान्न चेदभिमतोऽन्वयः।
येन बद्धोऽम्बुधिर्यस्य रामस्यानुचरा वयम् ॥२३॥

संस्कृत व्याख्या—अभवन्मतयोगं लक्षयति—'अभवन्मतयोग' इत्यादि। **चेत्** यदि अन्वयः सम्बन्धोऽभिमतोऽभीष्टो न स्यात् तदा न नहि भवन् सम्पद्यमानः

मतः अभीष्टः योगः सम्बन्धो यत्र तथा अभवन्मतयोगनामको दोषः स्यात् । यस्य पदस्य योगः कविनाऽभीष्टो न भवति तस्य पदस्य प्रयोगे अभवन्मतयोगो नाम काव्यदोषो जायत इति ।

अस्योदाहरणं यथा—'येन बद्धो' इत्यादि । 'येन रामेण अम्बुधिः सागरो बद्धस्तदुपरि सेतुनिर्माणं कृतं तथा च यस्य रामस्य लोकनयनाभिरामस्य वयमनुचराः सेवकाः ।' अस्मिन् वाक्ये येनेति यत्पदेन यस्येति यत्पदस्य कविना नाभिमतः, अपि तु यच्छब्दस्य तच्छब्देन योगोऽभिमतो भवति 'यत्तदोर्नित्य-सम्बन्धः' इति नियमात् । येन यस्येत्युक्तमिति अभवन्मतयोगस्योदाहरणमिदम् । 'तस्य रामस्यानुचरा वयम्' इति वक्तव्ये न दोषः ॥२३॥

हिन्दी व्याख्या—जिस पद का जिस पद के साथ अन्वय कवि को अभीष्ट न हो, उस पद के प्रयोग करने पर अभवन्मतयोग नामक काव्यदोष हो जाता है । अ (नहीं है) भवन् (उपपद्यमान) मत (अभीष्ट) योग (सम्बन्ध) जहाँ पर, यह इसकी व्युत्पत्ति है ।

अभवन्मतयोग का उदाहरण जैसे—'येन बद्धो' इत्यादि । 'जिसने समुद्र को बाँधा तथा जिस राम के हम लोग अनुचर हैं ।' इस वाक्य में येन यत्पद से निष्पन्न है तथा यस्य भी यत्पद से निष्पन्न है । इस प्रकार येन के साथ यस्य का सम्बन्ध कवि को अभीष्ट नहीं है, क्योंकि यत्पद का यत्पद के साथ सम्बन्ध नहीं होता । यत्पद का तत्पद के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि 'यत्तदोर्नित्य-सम्बन्धः' यत् तथा तत् पद का नित्य सम्बन्ध है—ऐसा नियम है । प्रस्तुत वाक्य में 'येन यस्य' का पारस्परिक सम्बन्ध अभीष्ट न होने के कारण यह अभवन्मत का उदाहरण है । यदि 'यस्य' के स्थान पर तस्य पाठ कर दिया जाय तो इस दोष की निवृत्ति हो जायेगी ।।२३।।

द्विषां सम्पदमाच्छिद्य यः शत्रून् समपूरयत् ।।

अस्थानस्थसमासं न विद्वज्जनमनोरमम् ।।२४।।

संस्कृत व्याख्या—अस्थानस्थसमासं लक्षयति—'द्विषां सम्पदमाच्छिद्य' इत्यादि । स्थाने समुचितस्थले न तिष्ठतीति अस्थानस्थः समासो यत्र तत्

तदिति । समासोचिते स्थाने समासाभावे, असमासोचिते स्थाने च समासे सति संज्ञानुरूपमेव अस्थानसमासं नाम काव्यदोष इति । बीजञ्चास्य दोषत्वे विद्वज्जनामनोरमत्वमेव । तद्दृष्टान्तयति 'द्विषाम्' इत्यादि । यो राजा द्विषां शत्रूणां सम्पदं सम्पत्तिमाच्छिद्य हृणदाहृत्य शत्रून् रिपून्नेव पुनः यत् समपूरयत् अददत् तत् विद्वज्जनां विदुषां मनोरमं हृद्यं न नहि भवति तथैव अस्थानस्थसमासमपि सहृदयहृदयाह्लादकं न भवति ।

अस्थानस्थसमासमुदाहरति—'द्विषां सम्पदमाच्छिद्य' इत्यादि । अत्र पूर्वार्धे शत्रुसम्पदाहरणरूपोत्साहस्य वर्णनाद् वीरो रसः । तत्र च दीर्घसमासत्वमुचितम्, किन्तु तत्र दीर्घसमासो न कृतः । उत्तरार्धे तु 'विद्वज्जनमनोरमम्' इत्यत्र कृतम्, यत्रावश्यकता नास्ति । एवञ्चानुपयुक्ते स्थाने समासत्वादस्थानस्थसमासत्वम् ॥२४॥

हिन्दी व्याख्या—अस्थानस्थसमास का स्वरूप बतलाते हैं—'द्विषां सम्पदमाच्छिद्य' इत्यादि । स्थान (समुचित स्थल) पर न रहने वाला हो समास जिसमें, वह अस्थानसमास है । अर्थात् समासोचित स्थान पर समास न होना तथा असमासोचित (जहाँ समास नहीं होना चाहिये, उस) स्थान पर समास कर देना अस्थानस्थसमास नामक काव्यदोष कहलाता है । विद्वज्जनामनोरमत्व (सहृदयहृदयाह्लादकत्वाभाव इसके दूषकता का बीज है । इस दोष को समझाने के लिये कवि ने एक दृष्टान्त का सहारा लिया है—जो राजा शत्रुओं की सम्पत्ति को छीन कर, जो पुनः शत्रुओं को ही दे देता है—यह बात विद्वानों के लिये मनोरम नहीं है, विद्वानों को अच्छी नहीं लगती—इसी प्रकार जो समास सहृदयों को हृद्य नहीं होता, वह अस्थानस्थसमास नामक काव्यदोष कहलाता है । या अस्थानस्थसमास भी सहृदयहृदयाह्लादक नहीं होता ।

अस्थानस्थसमास का उदाहरण देते हैं—'द्विषां सम्पदमाच्छिद्य' इत्यादि । इस वाक्य में पूर्वार्ध में शत्रुओं की सम्पत्ति को छीनने में उत्साह होने के कारण वीररस है । वीररस में लम्बे-लम्बे समास होने चाहिये किन्तु कवि ने वहाँ दीर्घ समास नहीं किया है । उत्तरार्ध में सामान्य बात है, उसमें लम्बे समास की आवश्यकता

नहीं है, फिर भी कवि ने 'विद्वज्जनमनोरमम्' कह कर लम्बे समास का प्रयोग किया है। इस प्रकार अनुपयुक्त स्थान में समास होने के कारण अस्थानस्थसमास का यह उदाहरण हुआ ॥२४॥

मिथः पृथग्वाक्यपदैः सङ्कीर्णं यत्तदेव तत् ।
वक्त्रेण भ्राजते रात्रिः कान्ता चन्द्रेण राजते ॥२५॥
ब्रह्माण्डं त्वद्यशःपूरगर्भितं भूमिभूषण ! ।
आकर्णय पयःपूर्णसुवर्णकलशायते ॥२६॥

संस्कृत व्याख्या—सङ्कीर्णं लक्षयन्नाह—'मिथः' इत्यादि। वाक्यं च पदञ्चेति वाक्यपदे पृथक् च ते वाक्यपदे तैरिति पृथक्वाक्यैः पृथक् पदैश्चेति। अत्र बहुवचनमविवक्षितम्। अतः पृथक् अन्येन वाक्येन पृथक् अन्ये वाक्ये, पृथक् अन्येन पदेन पृथक् अन्ये पदे च मिथः यत् सङ्कीर्णत्वं मिश्रितत्वं तत् तदेव सङ्कीर्णमेव दोष इति एवञ्च सङ्कीर्णं द्विविधम्—पदगतं वाक्यगतञ्चेति।

तत्र प्रथमं पदगतं सङ्कीर्णत्वमुदाह्रियते—'वक्त्रेण' इत्यादि। 'वक्त्रेण मुखेन कान्ता नायिका भ्राजते द्योतते चन्द्रेण चन्द्रमसा च रात्रिः रजनी राजते शोभते' इति वक्तुरभिप्रायः किन्तु पूर्वार्धगतेन वक्त्रेणेति पदेन कान्तापदं सम्बद्धमस्ति तच्चोत्तरार्धे सङ्कीर्णम्, उत्तरार्धवाक्यस्थितेन चन्द्रेण रात्रिः सम्बद्धाऽस्ति तच्च रात्रिपदं पूर्वार्धे सङ्कीर्णमिति पदगतस्य सङ्कीर्णत्वस्योदाहरणमिदम् ॥२५॥

वाक्यगतं सङ्कीर्णत्वं यथा—'ब्रह्माण्डम्' इत्यादि। हे भूमिभूषण ! राजन् ! आकर्णय शृणु—त्वद्भवतो यशःपूरैः यशःप्रवाहै गर्भितं पूर्णं ब्रह्माण्डमखिलं जगत् पयसा जालेन पूर्णः पयःपूर्णश्चासौ सुवर्णस्य कलशो हैमघट इवाचरतीत्यत्र यशःपूरगर्भितस्य ब्रह्माण्डस्य पयःपूर्णसुवर्णकलशेनोपमा प्रतिपाद्यते। अत्र 'हे भूमिभूषणं (त्वम्) आकर्णय' इत्येकं वाक्यम्, 'त्वद्यशःपूरगर्भितं ब्रह्माण्डं पयःपूर्णसुवर्णकलशायते' इत्यन्यद् वाक्यम् अस्य द्वितीयस्य वाक्यस्य मध्ये एव प्रथमं वाक्यं सङ्कीर्णमस्ति। एवञ्चेदं वाक्यगतस्य सङ्कीर्णस्योदाहरणमिदम् ॥२६॥

हिन्दी व्याख्या—सङ्कीर्ण का स्वरूप बतलाते हैं—'मिथः' इत्यादि। वाक्य और पद में द्वन्द्व समास है, पुनः पृथक् के कर्मधारय समास किया गया है। द्वन्द्व

के आदि, मध्य तथा अन्त में रहने वाले पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है (द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकेनाभिसम्बध्यते) इस नियम के अनुसार पृथक् का वाक्य तथा पद दोनों से सम्बन्ध है। इस प्रकार पृथक् वाक्य तथा पृथक् पदों के साथ यह अर्थ निष्पन्न होता है। यहाँ बहुवचन विवक्षित नहीं है। अतः एक अन्यपद के द्वारा अन्य पृथक् पद के तथा अन्य वाक्य के द्वारा अन्य वाक्य के सङ्कीर्ण (मिश्रित) होने पर सङ्कीर्ण नाम का ही काव्यदोष माना जाता है। इस तरह सङ्कीर्ण दो प्रकार का है—पदगतसङ्कीर्ण तथा वाक्यगत सङ्कीर्ण।

इनमें से प्रथम पदगत सङ्कीर्णत्व का उदाहरण देते हैं—'वक्त्रेण' इत्यादि। 'वक्त्र (मुख) से नायिका सुशोभित होती है तथा चन्द्रमा से रात्रि सुशोभित होती है।' यह वक्ता का अभिप्राय है, किन्तु पूर्वार्धगत वक्त्रपद से कान्तापद सम्बद्ध है तथा वह (कान्ता पद) उत्तरार्ध में सङ्कीर्ण है। एवं उत्तरार्ध वाक्यस्थित चन्द्रपद से रात्रि सम्बद्ध है और वह रात्रिपद पूर्वार्ध में सङ्कीर्ण है। अतः यह पदगतसङ्कीर्णत्व का उदाहरण है ॥२५॥

वाक्यगतसङ्कीर्णत्व का उदाहरण है—'ब्रह्माण्डम्' इत्यादि। हे भूमिभूषण राजन्! सुनिये—आपके यशरूपी प्रवाह से पूर्ण यह ब्रह्माण्ड जल से पूर्ण सुवर्ण घट के समान आचरण करता है (प्रतीत हो रहा है)। यहाँ यशःपूरगर्भित ब्रह्माण्ड की पयःपूर्ण सुवर्ण घट उपमा का प्रतिपादन किया गया है। इसमें दो वाक्य हैं—१. हे भूमिभूषण राजन्! आप सुनिये। तथा २. आपके यशःपूर से गर्भित ब्रह्माण्ड जलपूर्ण सुवर्ण घट के समान आचरण कर रहा है। इनमें द्वितीय वाक्य के अन्तर्गत प्रथम वाक्य सङ्कीर्ण है। अतः यह वाक्यगत सङ्कीर्णत्व का यह उदाहरण हुआ ॥२६॥

भग्नप्रक्रममारब्धशब्दनिर्वाहहीनता ।
अक्रमः कृष्ण ! पूज्यन्ते त्वामनाराध्य देवताः ॥२७॥

संस्कृत व्याख्या—भग्नप्रक्रमतां लक्षयति—भग्नः प्रक्रमो यस्मिंस्तत् भग्नप्रक्रमम्, यथा प्रारब्धं न तथा निर्व्यूढम्। आरब्धस्य शब्दस्य निर्वाहेऽन्ततो ग्रहणे

हीनताऽनिर्वाहकता चेत्तदा भग्नप्रक्रमनामको दोषः स्यात्। प्रक्रमश्चात्र वाञ्छित-प्रकारकोऽर्थः, यत् येन प्रकारेणाभीष्टं तथाऽनुक्तिः प्रक्रमभङ्गः। अर्थाद्येन धातुना प्रत्ययेन वा प्रारम्भो भवेत् तेनैव समाप्तिरिति, नियमः, अन्यथाभग्नप्रक्रम स्यात्।

अस्योदाहरणं यथा—'अक्रमः कृष्ण!' इत्यादि। हे कृष्ण! त्वां सर्वथाऽऽराध्यं त्वाम् अनाराध्यापूजयिष्यत्वा अन्यदेवताः पूज्यन्ते आराध्यन्ते इत्यक्रमः क्रमविचारो न जायत इति। अत्र 'पूज्यन्ते' इत्यत्र 'पूज्'-धातुना प्रारब्धः पश्चाच्च 'अनाराध्य' इत्यत्र पूजार्थकेन 'राज्'-धातुना समापनं कृतमिति भग्नप्रक्रम-त्वम् ॥२७॥

हिन्दी व्याख्या—भग्नप्रक्रमता के स्वरूप का प्रतिपादन करता है—'भग्न-प्रक्रम' इत्यादि। भग्न है प्रक्रम (प्रारब्ध नियम) जिसमें, अर्थात् जिसमें प्रारब्ध नियम का अन्ततः निर्वाह न किया जाय, उसे भग्नप्रक्रम कहते हैं। प्रक्रम का अर्थ है—वाञ्छित प्रकार का जो अर्थ जिस प्रकार अभीष्ट हो, उस प्रकार न कहा जाय अर्थात् जिस धातु या प्रत्यय से रचना प्रारम्भ किया जाय, उससे समाप्ति न किया जाय, उसे भग्नप्रक्रम नामक काव्यदोष कहते हैं—

इसका उदाहरण जैसे—'अक्रमः कृष्ण!' इत्यादि। 'हे कृष्ण (सर्वथा आराध्य) आपकी पूजा न करके अन्य देवताओं की पूजा हो रही है—यह अक्रम है।' इस वाक्य में 'पूज्यन्ते' तथा 'अनाराध्य' इन दो पदों का प्रयोग किया गया है। दोनों ही पूजार्थक हैं, फिर भी 'पूज्यन्ते' में 'पूज्' धातु से रचना प्रारम्भ किया किन्तु अन्ततः उसका निर्वाह नहीं किया, अपितु अन्त में 'राध्' धातु का प्रयोग कर दिया है, अतः यह भग्नप्रक्रम का उदाहरण है ॥२७॥

अर्थदोषान्नाह—

अमतार्थान्तरं मुख्येऽमुख्येनार्थे विरोधकृत्।
त्यक्तहारमुरः कृत्वाशोकेनालिङ्गिताऽङ्गना ॥२८॥

संस्कृत व्याख्या—अत्र प्रकरणप्राप्तानर्थदोषान् प्रतिपादयन् प्रथमम् अमतार्थान्तरं लक्षयति—मुख्ये अर्थे रसे 'मुख्यार्थहतिर्दोषः' इति दोषसामान्यलक्षणं

कृत्वा 'रसश्च मुख्यः' इत्यनेन रसस्यैव मुख्यार्थत्वेन प्रतिपादनात्। एवं च मुख्ये प्रधानतः प्रतिपाद्ये रसे अमुख्येन गुणीभूतेन विरोधं करोतीति विरोधकृत् विरोधप्रतिपादकम् अमतार्थान्तरं न मतोऽभीष्टोऽन्योऽर्थोऽर्थान्तरः यस्मिंस्तत् अमतार्थान्तरं नाम काव्यदोष इति। इत्थं विरोधिरसयोः प्रतिपादनं येन वाक्येन जायेत् तस्य प्रयोगे सति एकस्यार्थस्य कविसंरम्भागोचरत्वात् अमतार्थान्तरं नाम दोष इति फलितम्।

तदुदाहरति—त्यक्तहारेत्यादि। त्यक्तः अपहारितो हारो मौक्तिकमाला यस्मात्तत् एवम्भूतम् उरः वक्षःस्थलं कृत्वा सम्पाद्य अङ्गना नायिका शोकेन कष्टेन प्रियतमवियोगजन्यदुःखेन आलिङ्गिता समाक्रान्ता जाता। अनेन वाक्येन नायिकानिष्ठप्रियतमविषयकशोकस्य पुष्टत्वात् शोकस्थायिभावकः करुणो रसः मुख्योऽर्थः। श्लेषदिशा 'कृत्वाशोकेनेत्यस्य' 'कृत्वा अशोकेन' इति पदच्छेदे--'नास्ति शोकः कष्टो यस्य तेनैवम्भूतेन सर्वथाप्रसन्नेन नायकेन नायिकावक्षःस्थतो हारमपहाय समालिङ्गने यथा काचिद् बाधा न स्यात्तथा कृत्वा अङ्गना सा नायिका समालिङ्गिता।' इत्यर्थे सति नायकनिष्ठनायिकारतेः पुष्टत्वात् संयोगशृङ्गारो रसो व्यज्यत इति शृङ्गाररसरूपोऽमुख्योऽर्थः। एवञ्च मुख्ये (करुणे शृङ्गारे वा) अमुख्येन (शृङ्गारेण करुणेन) गुणीभूतेन विरोधः प्रदर्श्यत इति अमतार्थान्तरं नाम काव्यदोषः। अत्र द्वयोऽर्थयोः को मुख्यः, कश्चामुख्यः ? इत्यस्य निर्णायकं प्रकरणमेव भविष्यति। प्रकरणतः करुणे प्रतिपाद्ये करुणो मुख्योऽर्थः, ततश्चार्थान्तरः शृङ्गारो नाभिमतो भविष्यति, शृङ्गारे च मुख्ये करुणस्यानभिमतत्वमिति अभिमतार्थान्तरत्वमस्य सिद्धम् ॥२८॥

हिन्दी व्याख्या—मुख्य अर्थ (प्रधानरूप में प्रतिपाद्य रस) में अमुख्य (गुणीभूत रस) के द्वारा विरोध की प्रतीति कराने पर अमतार्थान्तर नामक दोष माना जाता है। 'अ नहीं है। मत (अभिमत, अभीष्ट) अर्थान्तर (अन्य अर्थ) जहाँ पर' इस व्युत्पत्ति के आधार पर इस दोष के मूल में श्लेष आदि को मानना पड़ेगा। जहाँ पर श्लेष आदि की महिमा से दो अर्थों की प्रतीति होती हो, जिनके आधार पर दो रसों का प्रतिपादन हो सके तथा उन रसों में एक रस अङ्गी (प्रधान) तथा दूसरा रस अङ्ग (गुणीभूत, अमुख्य) हो

और उन दोनों रसों में परस्पर विरोध हो, जिसके कारण दोनों रसों को कवि-संरम्भगोचर न कहा जा सके (एक रस ही कवि को अभीष्ट हो तथा दूसरा अभीष्ट न हो) तो वहाँ अर्थान्तर के अभिमत न होने के कारण अमतार्थान्तर नामक काव्यदोष माना जायेगा।

इसका उदाहरण जैसे—'त्यक्तहार' इत्यादि। इस वाक्य में 'कृत्वाशोकेन' इस पद का दो प्रकार से विच्छेद किया जा सकता है—'कृत्वा शोकेन' तथा 'कृत्वा अशोकेन'। इनमें प्रथम विच्छेद को लेकर—'नायिका अपने उरःस्थल को हार से मुक्त करके (वक्षःस्थल से हार को हटा कर) शोक से आलिङ्गित (शोकाकुल) हो गई' यह अर्थ करने पर नायिकानिष्ठ नायकविषयक शोक के पुष्ट होने के कारण शोकस्थायिभाव करुण रस माना जायेगा। 'कृत्वा अशोकेन' इस द्वितीय व्युत्पत्ति के आधार पर—शोकरहित (सर्वथा प्रसन्न) नायक ने नायिका के वक्षःस्थल से हार को हटा कर (जिससे किसी प्रकार की बाधा न हो) नायिका का (गाढ) आलिङ्गन किया।' इस अर्थ के द्वारा नायकनिष्ठ नायिका-विषयक रति के पुष्ट होने के कारण संयोग-शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति मानी जायेगी। इस प्रकार सन्धिविच्छेद (श्लेष) की महिमा से यहाँ दो अर्थों की प्रतीति हो रही है।

इन दोनों अर्थों में एक मुख्य तथा दूसरा अमुख्य होगा। इनमें कौन मुख्य है तथा कौन अमुख्य है—इसका निर्णय प्रकरण के आधार पर किया जायेगा। इस प्रकार वियोगवर्णन के प्रकरण में करुण मुख्य होगा, शृङ्गार गौण तथा रतिवर्णन के प्रकरण में शृङ्गार रस मुख्य तथा करुण अमुख्य (गौण) होगा। करुण तथा शृङ्गार - ये दोनों रस परस्पर विरोधी हैं, दोनों एक साथ नहीं रह सकते। अतः मानना पड़ेगा कि दोनों अर्थ कवि को अभीष्ट नहीं हो सकते। प्रकरण के आधार पर जो अर्थ अभीष्ट होगा, उसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ अमत (अभीष्ट नहीं) होगा। इस प्रकार यहाँ दो विरोधी रसों की प्रतीति होने के कारण अमतार्थान्तर नामक दोष माना जायेगा ॥२८॥

अपुष्टार्थे विशेष्ये चेन्न विशेषो विशेषणात् ।
विशन्ति हृदयं कान्ताकटाक्षाः खञ्जनत्विषः ॥२९॥

संस्कृत व्याख्या—अपुष्टार्थं लक्षयन्नाह—'अपुष्टार्थमि'त्यादि । चेत् यदि विशेषणात् तदितरभेदप्रतिपादकत्वलक्षणविशिष्टात् धर्मात् विशेष्ये धर्मिणि मुख्यतः प्रतिपाद्ये तत्त्वे विशेषः किञ्चिद् वैशिष्टयं नैव आयाति स अपुष्टार्थो नाम दोष इति । काव्ये विशेषणानां प्रतिपादनं विशेषार्थप्रतीतये क्रियते । येन विशेषणेन किञ्चिद् वैशिष्टयं न जायते तद्विशेषणं विशेषणमेव भवति, तदर्थस्यापुष्टत्वात् अकिञ्चित्करत्वात् । अयं भावः—विशेष्यविशेषणयोः उपकार्योपकारकभावसम्बन्धो भवति । यद्विशेषणं विशेष्यस्योपकारकं न भवति तत् काव्ये अपुष्टार्थनामकं दोषं जनयति ।

अस्योदाहरणं यथा—'विशन्ति' इत्यादि । खञ्जनस्य खञ्जरीटस्य पक्षिविशेषस्य नेत्रयोः त्विट् कान्तिरिव त्विट् येषां ते खञ्जननेत्रतुल्या इति भावः, कान्तायाः नायिकायाः कटाक्षाः नेत्रविक्षेपाः हृदयं युवजनहृदयं विशन्ति प्रविशन्ति । अस्मिन्' वाक्ये 'कान्ताकटाक्षाः' इति विशेष्यम्, 'खञ्जनत्विषः' इति विशेषणम् । 'खञ्जनत्विषः' इति विशेषणेन विशेष्ये किमपि वैशिष्टयं नायाति । यतो हि कान्ताकटाक्षकर्तृक-हृदयप्रविशनरूपक्रियानुकूल्यं येन स्यात् तेनैव वैशिष्टयं स्यान्नाम । खञ्जनत्विषां प्रविशनक्रियानुकूल्याभावात् अपुष्टार्थत्वमिति । यदि शरैः सादृश्यं प्रतिपादयेत् तदाऽऽनुकूल्यमायात्, शराणां प्रवेशानुकूलत्वात् । अतएव 'शरसन्निभाः' इति विशेषणे न दोषः ॥२९॥

हिन्दी व्याख्या—अपुष्टार्थ का स्वरूप बतलाते हुये कहा है—'अपुष्टार्थम्' इत्यादि । यदि विशेषण के द्वारा विशेष्य में कोई विशेषता न आ सके तो वहाँ अपुष्टार्थ नामक दोष माना जायेगा । विशेषण का लक्षण है—इतरभेदप्रतिपादकत्व । इस रूप में विशेषण तद्धर्म होता है तथा विशेष्य मुख्यतः प्रतिपाद्य धर्मी होता है । धर्मी के उत्कृष्टता की प्रतीति कराना धर्म (विशेषण) का धर्म होता है । काव्य में विशेषणों का महत्त्व वैशिष्ट्यप्रतिपादन से ही है । अतः जो

वैशिष्ट्य का प्रतिपादन न कर सके वह विशेषण विशेषण ही नहीं है, क्योंकि वैशिष्ट्य का प्रतिपादन न करने के कारण उसका अर्थ पुष्ट नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि—विशेष्य तथा विशेषण में उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध होता है। जो विशेषण विशेषण का उपकार न कर सके, उसके अर्थ को अपुष्ट मानते हुये वहाँ अपुष्टार्थ नामक दोष माना जाता है।

इसका उदाहरण जैसे—'विशन्ति' इत्यादि। खञ्जन पक्षी के नेत्र की कान्ति के समान कान्ति वाले नायिका के कटाक्ष हृदय में प्रवेश कर रहे हैं।' इस वाक्य में 'कान्ताकटाक्षाः' विशेष्य तथा 'खञ्जनत्विषः' उसका विशेषण है। 'खञ्जनत्विषः' इस विशेषण के द्वारा विशेष्य में कोई वैशिष्ट्य नहीं आता। क्योंकि वैशिष्ट्य तब आयेगा, जब 'खञ्जनत्विषः' में कान्ताकटाक्षकर्तृक-हृदयप्रविशनरूप क्रिया में अनुकूलता हो। हृदयप्रविशनरूप क्रियानुकूलता इसमें नहीं है। अतः प्रकृत वाक्य में इसका अर्थ पुष्ट नहीं है। यदि कान्ताकरुण का बाणों के द्वारा सादृश्य प्रतिपादित किया जाय, तब उसमें वैशिष्ट्य आ सकता है, क्योंकि बाणों का शीघ्रता से प्रवेश करना प्रसिद्ध है। इस प्रकार इसमें प्रविशन-क्रियानुकूलता होगी। अतः 'खञ्जनत्विषः' के स्थान पर 'शरसन्निभाः' पाठ कर देने पर अपुष्टार्थ दोष नहीं होगा ॥२९॥

कष्टः स्पष्टावबोधार्थमक्षमो वाच्यसन्निभः।
व्याहतश्चेद्विरोधः स्यान्निथः पूर्वापरार्थयोः ॥३०॥

संस्कृत व्याख्या—कष्टत्वं लक्षयन्नाह—'कष्टः' इत्यादि। वाचि शब्दे असत् अविद्यमानत्वं तेन निभः तुल्यः शब्देऽविद्यमान् इव यथा शब्दे अर्थ एव न भवेत्तथा स्पष्टं वक्तुरभिप्रायानुकूलं यथा स्यात्तथा अवबोधार्थम् अर्थं प्रतिपादयितुम् अक्षमः स्यात्तदा कष्टं नाम काव्यदोष इति। एवं स्पष्टतोऽर्थप्रतिपादनासमर्थत्वं कष्टत्वमिति फलितम्।

अस्योदाहरणं यथा—'वाच्यसन्निभः' इति। अत्र वाच्यार्थेन सन्निभः सदृशः इत्यर्थस्य प्रतीतिस्तथैव न जायते यथा अस्य शब्दस्याभावे। एवञ्चास्य पदस्य स्पष्टतोऽर्थप्रतिपादनाक्षमत्वात् अत्र कष्टत्वं नाम दोष इति।

व्याहतत्वं लक्षयति—व्याहतश्चेत्' इत्यादि। पूर्वश्च अपरश्चेति पूर्वापरौ, पूर्वापरौ च तौ अर्थौ पूर्वापरार्थौ, तयोः पूर्वापरार्थयोः पूर्वं प्रतिपादितेऽर्थे पश्चाच्च प्रतिपादितेऽर्थे परस्परं विरोधे स्याच्चेत् तदा व्याहतं नाम दोष इति। एवं पूर्वपरार्थखण्डनत्वं व्याहतत्वमिति फलितम्। अयं भावः—यत्र कस्यचिद् वस्तुनः प्रथममुत्कर्षं प्रतिपाद्य तत्पश्चात् तदपकर्षत्वं प्रतिपाद्येत्, पूर्वमपकर्षं प्रतिपाद्य पश्चात् उत्कर्षत्वं प्रतिपाद्येत् चेत्तदा एकेनार्थेन अपरस्य व्याहननं (खण्डनं) जायेत् इति तत्र तन्नामक एव दोषो भवति ॥३०॥

हिन्दी व्याख्या—कष्टत्व नामक दोष के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुये कहा है—'कष्टः' इत्यादि। वाचि + असत् + निभः, इस व्युत्पत्तिके आधार पर शब्द में न रहने के समान जहाँ पदार्थ वक्ता के अभिप्राय को स्पष्टतः प्रतिपादित करने में सक्षम न हो, वहाँ कष्टत्व नामक दोष होता है। इस प्रकार स्पष्टतः अर्थप्रतिपादनासमर्थत्व कष्टत्व है—यह लक्षण फलित हुआ।

इसका उदाहरण है—'वाच्यसन्निभः'। इस पद को सुनकर वाच्यार्थ के सन्निभ (सदृश) इस अर्थ की प्रतीति होती है किन्तु वाचि (शब्द में) असत् (न रहने के) सन्निभ (समान) इस अर्थ की प्रतीति नहीं होती। मानों ऐसा लगता है जैसा कि यह इस शब्द में हो ही नहीं। इस प्रकार इस शब्द में स्पष्टतः अर्थप्रतिपादन की क्षमता न होने के कारण यहाँ कष्टत्व दोष है।

व्याहत का लक्षण करते हैं—'व्याहतश्चेत्' इत्यादि। पूर्व और पर अर्थों में जहाँ परस्पर विरोध की प्रतीति होती हो, वहाँ व्याहत नाम का दोष होता है। परस्पर विरोध होने पर पूर्व अर्थ से पर अर्थ का, तथा पर अर्थ से पूर्व अर्थ का खण्डन हो जाता है। इस प्रकार पूर्वपरार्थखण्डनत्व व्याहतत्व है—यह लक्षण फलित होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ किसी वस्तु का पहले उत्कर्ष बतलाकर बाद में उसमें अपकर्ष बतलाया जाय अथवा पहले अपकर्ष का प्रतिपादन करके उसमें पुनः उत्कर्ष का प्रतिपादन किया जाय तो पूर्व तथा अपर अर्थ में एक अर्थ क द्वारा दूसरे का व्याहनन (खण्डन) होने के कारण वहाँ व्याहत नाम का ही दोष माना जाता है ॥३०॥

सहस्रपत्रमित्रं ते वक्त्रं केनोपमीयते ।
कुतस्तत्रोपमा यत्र पुनरुक्तः सुधाकरः ॥३१॥

संस्कृत व्याख्या—व्याहतत्वमुदाहरति—'सहस्रपत्रमित्रम्' इत्यादि । सहस्रपत्रं कमलं तस्य मित्रं सुहृत्, तत्तुल्यमिति ते तव वक्त्रं मुखं केन अन्येन वस्तुना उपमीयते उपमाविषयीकर्तुं शक्यते । अत्र पूर्वं वक्त्रस्य सहस्रपत्रमित्रत्वं प्रतिपाद्य तदुत्कर्षः प्रतिपादितः पुनश्च 'केनोपमीयते' इत्यत्र अन्येन केन उत्कृष्टेन वस्तुना उपमीयते उपमाविषयी क्रियते, नैव क्रियत इति नैव तदन्यतुल्य इति अपकर्षः प्रतिपादित इति कमलेन सादृश्यप्रतिपादके पूर्वार्धे, अन्येन सादृश्यनिषेधकेऽपरार्धे च परस्परं विरोध इति व्याहतत्वम् ।

पुनरुक्तं लक्षयति—'कुत' इत्यादि । यत्र सुधाकरश्चन्द्रमा पुनरुक्तः तत्र उपमा तेन सादृश्यं कथम् ? नैवेति भावः । यत्रैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः उक्तिर्भवति तत्रार्थस्य पुनः उक्तत्वात् पुनरुक्तो दोष इति स्पष्टम् ।

अस्योदाहरणं यथा—'कुतः' इत्यादि वाक्यमेव । 'तत्रोपमा कुतः' इत्यनेन उपमायाः निषेधः कृतः, पुनश्च 'सुधाकरः पुनरुक्तः' इत्यनेनेव सुधाकरेण तदुपमानिषेध एवेत्येकस्यैवार्थस्य द्विधा प्रतिपादितत्वात् पुनरुक्तो नाम दोष इति ॥३१॥

हिन्दी व्याख्या—व्याहतत्व का उदाहरण देते हैं—'सहस्रपत्रमित्रम्' इत्यादि । कमल के सदृश तुम्हारे मुख की उपमा किससे दी जा सकती है ? इस वाक्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है—१. ते वक्त्रं सहस्रपत्रमित्रम् (तुम्हारा मुख कमल का मित्र है) तथा २. 'ते वक्त्रं केनोपमीयते ?' (तुम्हारे मुख की उपमा किससे दी जा सकती है ?) । इनमें प्रथम अंश कमल के साथ मुख के सादृश्य का प्रतिपादन कर मुख में उत्कृष्टता का आधान करता है तथा दूसरा अंश 'तुम्हारे मुख की उपमा किसी दूसरे उत्कृष्ट वस्तु से नहीं दी जा सकती' इस अर्थ का प्रतिपादन कर मुख में अपकर्ष का प्रतिपादन करता है । इस प्रकार इन दोनों अंशों में परस्पर विरोध है । अतः यह व्याहतत्व नामक काव्यदोष का उदाहरण हुआ ।

पुनरुक्त दोष का लक्षण करता है—'कुत' इत्यादि। 'जहाँ चन्द्रमा पुनरुक्त है, वहाँ उससे उपमा कैसे दी जा सकती है ? अर्थात् नहीं दी जा सकती। जहाँ एक ही अर्थ की बार-बार उक्ति की जाती है, वहाँ अर्थ के पुनः उक्त होने के कारण पुनरुक्त नामक दोष होता है। पुनरुक्त का लक्षण स्पष्ट है।

इसका उदाहरण जैसे—'कुतः' इत्यादि। इस वाक्य को दो भाग में विभक्त कर देने पर प्रथम अंश, 'तत्रोपमा कुतः' (उससे उपमा कैसे दी जा सकती है ?) में उपमा का निषेध किया गया है, पुनः 'सुधाकरः पुनरुक्त' (सुधाकर पुनरुक्त है) इस अंश के द्वारा भी उपमा की पुष्टि न करके निषेध ही किया गया है। इस प्रकार उपमा निषेधरूप एक अर्थ को बार-बार उक्ति होने से इसमें पुनरुक्त नामक काव्यदोष है ॥३१॥

दुष्क्रमग्राम्यसन्दिग्धास्त्रयो दोषाः क्रमादमी।
त्वद्भक्तः कृष्ण ! गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा ॥
एकं मे चुम्बनं देहि तव दास्यामि कञ्चुकम्।
ब्रूत किं सेव्यतां चन्द्रमुखी चन्द्रकिरीटयोः ॥३२-३३॥

संस्कृत व्याख्या—दुष्क्रमादीनाह—दुष्क्रमेत्यादि। दुष्क्रमश्च ग्राम्यश्च सन्दिग्धश्चेति दुष्क्रम-ग्राम्य-सन्दिग्धाः इति अमी त्रयः त्रिसंख्याकाः दोषाः क्रमात् क्रमशः भवन्ति। नाम्नैव स्पष्टत्वादेषां लक्षणं नोक्तम्। तत्र दुष्क्रमत्वं नाम प्रतिपाद्योः द्वयोः वस्तुनः प्रथमं प्रतिपाद्यस्य पश्चात्प्रतिपाद्यस्य च पूर्वं प्रतिपादनेन क्रमभङ्गित्वम्। ग्राम्यत्वञ्च ग्रामीणजनवत् उक्तिः। सन्दिग्धत्वं नाम द्वयोः पक्षयोः अन्यतरपक्षे निर्णयाभावत्वम्।

एतेषां क्रमशः उदाहरणे दुष्क्रमत्वमुदाहरति—'त्वद्भक्तः' इत्यादि। हे कृष्ण ! त्वत् तव भक्तः आराधकः अहं कुत्र गच्छेयं, मया कुत्र गन्तव्यं नरकं वा स्वर्गम् एव। अत्र मरणोपरान्तं कश्चित् स्वर्गं गच्छति कश्चिच्च नरकम्। तत्र स्वर्गनरकयोः तत्कर्महेतुः। स्वर्गनरकयोः विकल्पे स्वर्गगमनमेव सर्वैः वाञ्छ्यत इति स्वर्गस्य प्रथमं क्रमः। यदि स्वर्गप्राप्तिर्न जाय ते तदाकश्चिन्नरकं गच्छतीति

नरकस्य पश्चात् क्रमः। प्रस्तुतेऽस्मिन् वाक्ये नरकगमनं पूर्वं कल्पितं पश्चाच्च स्वर्गगमनमिति क्रमस्यानौचित्यात् दुष्क्रमत्वं दोषः।

ग्राम्यमुदाहरति—'एकं मे' इत्यादि। मे मम कृते एकमेकवारं चुम्बनं वक्त्रसंयोगं देहि एतत्कृते अहं तव ते कञ्चुकं चोलिकां दास्यामि प्रदास्यामि। चोलिकादानेन चुम्बनयाचना ग्राम्यजनैः क्रियत इति वाक्येऽस्मिन् ग्राम्यत्वं दोषः।

सन्दिग्धत्वमुदाहरति—'ब्रूत' इत्यादि। चन्द्रवत् शशितुल्यं मुखमाननं यस्याः सा चन्द्रमुखी काचिन्नायिका चन्द्रो रजनीकरः किरीटे मुकुटे यस्य स चन्द्रकिरीटश्चन्द्रमौलिर्भगवान् शङ्करः, चन्द्रमुखी च चन्द्रकिरीटश्च चन्द्रमुखीचन्द्रकिरीटौ तयोः नायिकाशङ्करयोः किं कः सेव्यतां गृह्यतां चन्द्रमुखी नायिका वा चन्द्रकिरीटो भगवान् शङ्करो वा ? इति ब्रूत निर्णयं कृत्वा कथय। यदि ग्रहीता शृङ्गारी भविष्यति तदा निर्णयो नायिकापक्षे यास्यति, यदि च शान्तो विरागी भविष्यति तदा शङ्करपक्षे यास्यतीति स्पष्टम्। किन्त्वत्र वक्तुर्मनसि द्वयोरपि पक्षयोः समानरूपेण विद्यमानत्वात् निर्णयाभावाच्च सन्दिग्धत्वं नाम दोषः ॥३२-३३॥

हिन्दी व्याख्या—दुष्क्रम आदि दोषों को बतला रहे हैं—'दुष्क्रम' इत्यादि। दुष्क्रम, ग्राम्य और सन्दिग्ध नामक—ये तीन दोष क्रमशः होते हैं। इनके नाम से ही इनका लक्षण स्पष्ट है। अतः इनका लक्षण करने की आवश्यकता ग्रन्थकार को प्रतीत नहीं हुई। इसीलिये इनका कोई लक्षण नहीं किया है। दुष्क्रम दोष वहाँ होता है, जहाँ दो वस्तुएँ प्रतिपाद्य हों किन्तु उन दोनों में से जो पहले प्रतिपाद्य हो उसका वर्णन बाद में तथा जो बाद में प्रतिपाद्य हो, उसका वर्णन पहले किया जाय। इस प्रकार क्रम में अनौचित्य होने के कारण वहाँ दुष्क्रम नामक दोष माना जायेगा। ग्रामीणजन की उक्ति के समान उक्ति होने पर ग्राम्य दोष होगा। सन्दिग्धत्व दोष वहाँ होगा जहाँ दो पक्षों के उपस्थित रहने पर एक पक्ष में निर्णय न हो।

क्रमशः इनके उदाहरण के प्रसङ्ग में दुष्क्रमत्व का उदाहरण देते हैं—त्वद्भक्तः' इत्यादि। हे कृष्ण! तुम्हारे भक्त (मुझ) को कहाँ जाना चाहिये,

नरक में अथवा स्वर्ग में ? मरने के बाद कोई स्वर्ग जाता है तो कोई नरक में जाता है। स्वर्ग अथवा नरकगमन में उस व्यक्ति के कर्म कारण होते हैं। स्वर्ग तथा नरक के विकल्प में सभी लोग स्वर्ग की ही कामना करते हैं। नरक की कामना कोई नहीं करता। इस प्रकार स्वर्ग का क्रम पहले है। कर्मवश स्वर्ग की प्राप्ति न होने पर ही कोई व्यक्ति नरक में जाता है। इस प्रकार नरक क्रम बाद में आता है। उदाहृत इस प्रस्तुत वाक्य में नरकगमन की कल्पना पहले की गई है तथा स्वर्ग-गमन की उसके बाद में। इस प्रकार क्रम के अनौचित्य के कारण यह दुष्क्रम का उदाहरण है।

ग्राम्य का उदाहरण देते हैं—'एकं मे' इत्यादि। 'मुझे एक बार चुम्बन दो तो मैं तुम्हें एक चोली दूँगा।' इस वाक्य में चुम्बन देने के शर्त पर चोली देने की बात की गई है। चोलिका देकर चुम्बन की याचना ग्रामीणजन करते हैं। कोई सभ्य व्यक्ति इस प्रकार शर्त नहीं रख सकता। अतः यह वाक्य ग्राम्य दोष का उदाहरण होगा।

सन्दिग्धत्व का उदाहरण देते हैं—'ब्रूत' इत्यादि। चन्द्रमा के समान मुख वाली चन्द्रमुखी कोई नायिका है, चन्द्रमा है किरीट में जिसके ऐसे चन्द्रमौलि भगवान् शङ्कर हैं—इन दोनों (नायिका तथा शङ्कर) में कौन सेव्य है—नायिका या शङ्कर ? यह निर्णय करके बतलाइये। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यदि ग्रहीता शृङ्गारी होगा तो नायिका के पक्ष में निर्णय करेगा। यदि शान्त विरागी होगा तो शङ्कर के पक्ष में निर्णय करेगा। यहाँ वक्ता के मन में दोनों पक्ष समान रूप से उपस्थित हैं। दोनों पक्षों में से एक के प्रति निर्णय सन्देहास्पद है। अतः यह सन्दिग्धत्व दोष का उदाहरण है ॥३२-३३॥

अनौचित्यं कीर्तिलतां तरङ्गयति यः सदा।
प्रसिद्धया विद्यया वापि विरुद्धं द्विविधं मतम् ॥
न्यस्तेयं पश्य कन्दर्प प्रतापधवलद्युतिः।
केतकी शेखरे शम्भोर्धत्ते चन्द्रकलातुलाम् ॥३४-३५॥

संस्कृत व्याख्या—अनौचित्यं लक्षयन्नाह—अनौचित्यमिति । यः दोषः सदा कवेः कीर्तिलतां यशोवल्लीं तरङ्गयति चञ्चलयति यशोन्यूनतां प्रतिपादयति स दोषः अनौचित्यमिति । यथोक्तमौचित्यविचारचर्चायामाचार्येण क्षेमेन्द्रेण—'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।' इति । न उचितः अनुचितस्तस्य भावः अनौचित्यम्—इति व्युत्पत्तिदिशा उचितसङ्घटनाऽभावत्वमनौचित्यमिति लक्षणं फलितम् । बीजञ्चात्र सहृदयहृदयोद्वेजकत्वमेव ।

अस्योदाहरणं यथा—कीर्तिलतामित्यादि । यः सदा सर्वदा कीर्तिलतां यशोवल्लीं यशःपरम्परां तरङ्गयति तरङ्ग इव चञ्चलतां नयति । अस्मिन् वाक्ये कीर्तिलतायां तरङ्गस्य या सङ्घटना वर्णिताऽस्ति सा उचिता नास्ति, तरङ्गस्य जलधारायामेव सत्त्वात् । एवमनुचितसङ्घटनया सहृदयहृदयोद्वेजकत्वादिदमनौचित्यस्योदाहरणम् ।

विरुद्धं लक्षयति—'प्रसिद्धया' इत्यादि । प्रसिद्धया महाकविवर्णनपरम्परया विद्यया शास्त्रेण वा यद् विरुद्धं तद् विरुद्धं नाम दोष इति । इत्थं महाकविवर्णनपरम्परा-शास्त्राभ्यां विरुद्धत्वं विरुद्धदोषत्वमिति । एवञ्च विरुद्धं द्विविधं द्विप्रकारकम्—१. प्रसिद्धिविरुद्धम्, २. शास्त्रविरुद्धञ्चेति । तत्राद्यमुदाहरति—'न्यस्तेयम्' इत्यादि । इयं पुरो दृश्यमाना कन्दर्पस्य कामदेवस्य प्रतापस्तेजस्तस्य धवला शुभ्रा चासौ द्युतिः कान्तिः न्यस्ता स्थापितेति पश्य त्वमवलोकय । अत्र प्रतापस्य धवलद्युतित्वं वर्णितमस्ति, किन्तु महाकविसम्प्रदाये प्रतापस्यारुणत्वं कीर्तेश्च धवलद्युतित्वं प्रसिद्धम् । प्रतापस्य धवलद्युतित्वं महाकविसम्प्रदायविरुद्धमिति । प्रसिद्धिविरुद्धस्योदाहरणमिदम् ।

द्वितीयं शास्त्रविरुद्धत्वमुदाहरति—'केतकी शेखरे' इत्यादि । शम्भोः भगवतः शङ्करस्य शेखरे मस्तके केतकी केतकीपुष्पं चन्द्रकलायाः शशिकलायाः तुलां तुलनां सदृश्यमिति धत्ते धारयति । अत्र शम्भुशिखरेण केतकीधारणमुक्तमस्ति किन्तु शम्भुमस्तके केतकीसमर्पणं पुराणविरुद्धमस्ति । यतो हि—

'शृणु केतक ! ते पुष्पैर्नरो मामर्चयिष्यति ।
लक्ष्मीसन्ततिहीनोऽसौ रौरवं नरकं व्रजेत् ॥'

इति सनत्कुमारसंहितायां कार्तिकमाहात्म्ये वर्णितदिशा शङ्करेण केतकीधारणं निषिद्धम्। एवञ्चात्र पुराणशास्त्रविरुद्धवर्णनस्य सत्त्वादत्र विद्याविरुद्धत्वं नाम काव्यदोषः ॥३४-३५॥

हिन्दी व्याख्या—अनौचित्य का लक्षण करते हैं—'अनौचित्यम्' इत्यादि। जो सर्वदा कवि की कीर्तिलता को चञ्चल करता है, वह अनौचित्य दोष है। जैसा कि—

'अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।'

अनौचित्य से बढ़ कर रसभङ्ग का दूसरा कारण नहीं होता। यह लक्षण कोई विशेष लक्षण नहीं हुआ, क्योंकि कवि के यश को सभी दोष धूमिल करते हैं। यह दोष सामान्य का धर्म है। अतः अनौचित्य की न उचितः अनुचितः (जो उचित न हो), अनुचितस्य भावः अनौचित्यम् (अनुचित भाव को अनौचित्य कहते हैं), इस व्युत्पत्ति के अनुसार उचित संघटना के अभाव को अनौचित्य कहेंगे। यह अनौचित्य अनेक कारणों से अनेक प्रकार से हो सकता है, जिसको यहाँ बतलाना प्रासङ्गिक नहीं है। इस अनौचित्य दोष का बीज है—सहृदयहृदयोद्वेजकत्व।

इसका उदाहरण है—'कीर्तिलताम्' इत्यादि वाक्य। 'जो सर्वदा कवि की यशोवल्ली को तरङ्गित करता है'—इस वाक्य में कीर्तिलता में तरङ्ग के समान चञ्चलता-प्रतिपादन की संघटना की गई, जो अनुचित है। तरङ्ग की संघटना जलधारा में ही उचित है, कीर्तिलता में नहीं। इस प्रकार अनुचित संघटना के कारण यहाँ सहृदयहृदयोद्वेजकत्व आता है तथा यह अनौचित्य का उदाहरण हो जाता है।

विरुद्ध का लक्षण करते हैं—'प्रसिद्ध्या' इत्यादि। प्रसिद्धि का तात्पर्य है—महाकविवर्णनपरम्परा या कविसम्प्रदाय (कविसमयख्याति)। इस प्रकार कवियों ने जिस वस्तु का जिस प्रकार से वर्णन किया हो, उसी प्रकार वर्णन करना प्रसिद्धि के अनुकूल वर्णन है तथा वही उचित है। इसी प्रकार शास्त्रों में

जिस वस्तु को जिस रूप में प्रतिपादित किया गया हो, उसी रूप में वर्णन करना उचित है। कविप्रसिद्धि तथा विद्या (शास्त्र) के विपरीत वर्णन करना विरुद्धत्व दोष कहलाता है। इस तरह विरुद्ध दो प्रकार का है—१. प्रसिद्धिविरुद्ध तथा २. विद्याविरुद्ध।

इन दोनों में से प्रथम (प्रसिद्धिविरुद्ध) का उदाहरण देते हैं—'न्यस्तेयम्' इत्यादि। 'देखो, कामदेव के प्रताप की धवलद्युति सामने उपस्थित है (फैली हुई है)'—इस वाक्य में प्रताप की धवलकान्ति का वर्णन किया गया है किन्तु कविसम्प्रदाय में प्रताप का रंग लाल तथा कीर्ति का रंग—धवल प्रसिद्ध है। प्रताप की धवलद्युति कविसम्प्रदाय के विरुद्ध है। अतः यह प्रसिद्धिविरुद्ध का उदाहरण हुआ।

द्वितीय (विद्या = शास्त्रविरुद्ध) का उदाहरण देते हैं—'केतकी शेखरे' इत्यादि। 'शम्भु (भगवान् शङ्कर) के मस्तक पर केतकी (केवड़े का फूल) चन्द्रकला की तुलना को धारण करती है'—इस वाक्य में भगवान् शङ्कर के मस्तक से केतकीपुष्प के धारण की बात कही गयी है, किन्तु शङ्करजी के ऊपर केतकी के पुष्प को चढाना पुराणविरुद्ध है। क्योंकि—

'शृणु केतक ! ते पुष्पैर्नरो मामर्चयिष्यति।
लक्ष्मीसन्ततिहीनोऽसौ रौरवं नरकं व्रजेत् ॥'

(हे केतक ! सुनो, जो व्यक्ति तुम्हारे पुष्प से मेरी पूजा करेगा, वह लक्ष्मी (धन) तथा पुत्र से हीन होगा तथा रौरव नरक को प्राप्त करेगा।) सनत्कुमार-संहिता में कार्तिक-माहात्म्य में वर्णित इस श्लोक के अनुसार शङ्कर के द्वारा केतकीधारण निषिद्ध है। इस प्रकार 'केतकी शेखरे' इत्यादि वाक्य में पुराण-शास्त्र के विरुद्ध वर्णन होने के कारण विद्या (शास्त्र) विरुद्धत्व नामक दोष का यह उदाहरण हुआ ॥३४-३५॥

सामान्यपरिवृत्तिः स्यात् कुण्डलच्छविविग्रहा।
विशेषपरिवृत्तिः स्याद् वनिता मम चेतसि ॥३६॥

संस्कृत व्याख्या—सामान्यपरिवृत्तिं लक्षयति—'सामान्ये'त्यादि। परिवृत्तिः विनिमयः, परिवर्तनमिति। सामान्यस्य परिवृत्तिः इति षष्ठीतत्पुरुषसमासेन यत्र सामान्यस्य परिवर्तनं क्रियते अर्थात् सामान्ये वर्णितव्ये विशेषो वर्ण्यते, तत्र सामान्यस्य परिवर्तनात् सामान्यपरिवृत्तिर्नामको दोषो जायते। अस्योदाहरणं यथा—'कुण्डलच्छविविग्रहा' इति। नायिकाविशेषणत्वेन प्रयुक्तेऽस्मिन् पदे कुण्डलं स्वर्णनिर्मितं कर्णाभूषणम्, तस्य छविः सौवर्णिकी कान्तिः तद्वत् विग्रहः शरीरं यस्याः सेति सुवर्णकान्तितुल्यशरीरा सा नायिका मम मनसि वर्तते—अत्र नायिकाशरीरकान्त्युपमानत्वेन सुवर्णमेव ग्राह्यम्। सुवर्ण-कुण्डलयोः सुवर्णं सामान्यं कुण्डलञ्च विशेषः। अत्र सुवर्णे वर्णितव्ये कुण्डलं वर्णितमिति सामान्यं विहाय विशेषो वर्णितः। एवञ्च सामान्यस्य परिवर्तनात् सामान्यपरिवृत्तिर्नामको दोषोऽत्र सिद्धः।

विशेषपरिवृत्तिं लक्षयति—'विशेषे'त्यादि। यत्र विशेषस्य परिवृत्तिर्जायते अर्थाद् विशेषे वर्णितव्ये सामान्येन वर्णनं क्रियते तत्र विशेषपरिवृत्तिर्नाम दोषो भवति। अस्योदाहरणं यथा—'वनिता मम चेतसि' इति। मम चेतसि मनसि वनिता नायिकाऽस्ति। अत्र वनितात्वावच्छिन्ना वनिता कस्यचिन्मनसि नैव भवितुमर्हति, वनितात्वस्य जातित्वात्। एकत्वे सत्यनेकसमवेतत्वं जातित्वमिति जातिलक्षणानुसारं वनितात्वेन सकलवनितानां ग्रहणात्, सकलवनितानाञ्च एककालावच्छेदेनैकत्रवर्तमानासम्भवात्। एवञ्च काचिद् विशिष्टैव वनिता वक्तुर्मनसि वर्तत इति सिद्धम्। वनितेति सामान्यपदम्, किञ्चिन्नाम विशिष्टा वनिता विशेषपदमस्ति। नामविशिष्टायाः कस्याश्चिन्नायिकायाः वर्णनीयत्वे सामान्येन वनिता वर्णिताऽस्तीति विशेषस्य परिवृत्तेः विशेषपरिवृत्तिदोषस्योदाहरणमिदम् ॥३६॥

हिन्दी व्याख्या—सामान्यपरिवृत्ति का लक्षण करते हैं—'सामान्य' इत्यादि। परिवृत्ति का अर्थ है—विनिमय, परिवर्तन। सामान्य की परिवृत्ति इस षष्ठीतत्पुरुष समास के आधार पर जहाँ सामान्य का परिवर्तन किया जायेगा अर्थात् सामान्यरूप में वर्णन करने की अपेक्षा विशेषरूप में वर्णन किया जायेगा, वहाँ सामान्य का परिवर्तन होने के कारण सामान्यपरिवृत्ति नामक दोष होगा।

इसका उदाहरण है—'कुण्डलच्छविविग्रहा'। नायिका के विशेषण के रूप में प्रयुक्त इस पद में वर्णित 'कुण्डल' स्वर्णनिर्मित कर्णाभूषण है, उसकी छवि (कान्ति) के समान शरीर वाली नायिका (मेरे मन में रहती है)। यहाँ नायिका के शरीर की कान्ति की उपमा सुवर्ण से देनी है किन्तु कवि ने कुण्डल से उपमा दिया है। सुवर्ण और कुण्डल में सामान्यविशेषभाव है। सुवर्ण सामान्य है तथा कुण्डल उससे निर्मित होने के कारण विशेष। यहाँ सुवर्ण (सामान्य) से उपमा देने की जगह पर कुण्डल (विशेष) से उपमा दी गयी है। अतः सामान्य की परिवृत्ति होने के कारण यह सामान्यपरिवृत्ति नामक दोष का उदाहरण है।

विशेषपरिवृत्ति का लक्षण करते हैं—'विशेष' इत्यादि। जहाँ विशेष की परिवृत्ति (परिवर्तन) होता है अर्थात् विशेष वर्णन के स्थान पर सामान्य का वर्णन किया जाता है, वहाँ विशेष का परिवर्तन होने के कारण विशेष परिवृत्ति नामक दोष होता है। इसका उदाहरण है—'वनिता मम चेतसि' (वनिता = नायिका मेरे मन में है)। इस वाक्य में वनिता का मन में रहना वर्णित है। वनितात्व से अवच्छिन्न (विशिष्ट) नायिका किसी के मन में नहीं रह सकती। क्योंकि वनितात्व जाति है। यह वनितात्व सकलवनिता में होता है। एक होते हुये अनेक में रहना जाति का लक्षण है। वनिता से वनितात्व जातिविशिष्ट सकल वनिता का ग्रहण होता है। सम्पूर्ण वनिताओं का एक समय में, एक साथ, एक स्थान पर रहना असम्भव है। इस प्रकार कोई विशिष्ट (एक) वनिता ही वक्ता के मन में रह सकती है। वनिता सामान्य तथा किसी नाम से विशिष्टवनिता विशेषपद है। यहाँ विशेष (जो वर्णनीय है) को छोड़ कर सामान्य (जो वर्णनीय नहीं है) का वर्णन किया गया है। अतः विशेष की परिवृत्ति होने के कारण यह विशेषपरिवृत्ति दोष का उदाहरण हुआ ॥३६॥

द्वौ स्तः सहचराऽचारुविरुद्धान्योऽन्यसङ्गतौ।
श्वाङ्क्षाः सन्तश्च तनयं स्वं परञ्च न जानते॥
सरोजनेत्र! पुत्रस्य मुखेन्दुमवलोकय।
पालयिष्यति ते गोत्रमसौ नरपुरन्दरः॥३७-३८॥

संस्कृत व्याख्या—द्वौ द्विसंख्याकौ दोषौ स्तः। सह सार्धं चरतीति सहचरः, न चारु शोभनः अचारुः, अचारुश्चासौ सहचरः सहचराचारुः (अत्र समासे अचारुपदस्य परनिपातो जायते) अन्यश्चान्यश्चेति अन्योऽन्यौ, अन्योऽन्ययोः सङ्गतिः सम्मेलनम् अन्योन्यसङ्गतिः, विरुद्धश्चासौ अन्योन्यसङ्गतिरिति विरुद्धान्योन्यसङ्गतिः, सहचराचारुश्च विरुद्धान्योन्यसङ्गतिश्चेति। एवञ्च यत्र अचारुणो अशोभनयोः सहचरयोः वर्णनं क्रियते तत्र सहचराचारुनामकः प्रथमो दोषः। यत्र तु परस्परं विरुद्धयोः पदार्थयोः वर्णनं क्रियते तत्र विरुद्धान्योन्यसङ्गतिनामकोऽपरो दोषो भवतीति। १. सहचराचारुः, २. विरुद्धान्योन्यसङ्गतिरिति भेदाद् द्वौ दोषौ भवतः।

तत्राद्यं (सहचराचारुनामकं) दोषमुदाहरति—'ध्वाङ्क्षाः' इत्यादि। ध्वाङ्क्षाः काकपक्षिणः सन्तः सज्जनाश्च स्वं स्वकीयम्, परं परकीयं च तनयं पुत्रं न जानते। 'अयं निजः परो वेति' गणनारहिता भवन्तीति भावः। अत्र स्वपरगणनारहितत्वेन काकसज्जनानां सहैव वर्णनं कृतम्। काकसज्जनानां साहचर्यं चारु (शोभनं) नास्ति। अतः सहचराचारुदोषस्योदाहरणमिदम्।

द्वितीयं (विरुद्धान्योन्यसङ्गतिनामकं) दोषमुदाहरति—'सरोजनेत्र' इत्यादि। 'हे सरोजनेत्र! कमलनयन!, राजन्, पुत्रस्य स्वतनयस्य मुखमवलोकय। पश्य। असौ नरपुरन्दरः नरेन्द्रः तव पुत्रः ते तव गोत्रं वंशं पालयिष्यति पालनं करिष्यति'—अस्मिन् वाक्ये विरुद्धयोः सरोजचन्द्रयोः एकत्र सङ्गतिर्वर्णिताऽस्ति। उदिते चन्द्रे सरोजं सङ्कुचितं जायत इति प्रसिद्धम्। मुखे चन्द्रस्यारोपात् मुखस्य चन्द्रत्वेन ज्ञानं जायते 'सरोजनेत्र' इत्यत्र तु नेत्रयोः सरोजत्वेन ज्ञाने सरोजेन चन्द्रदर्शनं विरुद्धमिति विरुद्धयोः सम्मेलनात् विरुद्धान्योन्यसङ्गतिनामकस्य दोषस्योदाहरणमिदम् ॥३७-३८॥

हिन्दी व्याख्या—दो दोष और हैं। सहचर का अर्थ है साथ रहना, अचारु अर्थात् अशोभन। दो अशोभन वस्तुओं का सहचरत्व (एक साथ वर्णन) सहचराचारुदोष कहलाता है। 'अचारुश्चासौ सहचरः' इस विग्रह में समास करने पर अचारुपद का परनिपात होता है। इस प्रकार अचारु विशेषण है तथा सहचर

विशेष्य । परस्पर विरुद्ध दो वस्तुओं का एक साथ वर्णन करना विरुद्धान्योन्यसङ्गति नामक दोष कहलाता है । इस प्रकार—१. सहचराचारु तथा २. विरुद्धान्योन्यसङ्गति नामक दो दोष होते हैं ।

इनमें से प्रथम (सहचराचारु नामक) दोष का उदाहरण देते हैं—'ध्वाङ्क्षाः' इत्यादि । ध्वाङ्क्ष = कौवे तथा सन्त = सज्जन लोग 'अपना पुत्र तथा पराया पुत्र' इस बात को नहीं मानते 'अयं निजः परो वेति' इस गणना से रहित होते हैं । यहाँ 'स्व तथा पर' गणना से रहित काक एवं सज्जनों का (साहचर्य) एक साथ वर्णन किया गया है, जो शोभन नहीं है । अतः यह सहचराचारु नामक दोष का उदाहरण है ।

द्वितीय (विरुद्धान्योन्यसङ्गति नामक) दोष का उदाहरण देते हैं—'सरोजनेत्र' इत्यादि । 'हे कमलनयन, राजन् ! आप अपने पुत्र के मुखरूपी चन्द्रमा को देखिये । यह नरेन्द्र (आपका पुत्र) आपके वंश का पालन (रक्षा) करेगा ।' इस वाक्य में राजा के नेत्र को सरोज (कमल) तथा पुत्र के मुख को चन्द्रमा माना गया है । इस प्रकार सरोज के द्वारा चन्द्रमा को देखने की बात कही गई है । कमल तथा चन्द्रमा—दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । कमल के रहते चन्द्रमा नहीं रहता तथा चद्रन्मा के रहने पर कमल सङ्कुचित रहता है । सरोज के द्वारा चन्द्रदर्शन प्रसिद्धिविरुद्ध है । इस प्रकार दो परस्पर विरुद्ध वस्तुओं का वर्णन होने के कारण यह विरुद्धान्योन्यसङ्गति नामक दोष का उदाहरण होगा ॥३७-३८॥

पदे तदंशे वाक्यांशे वाक्ये वाक्यकदम्बके ।
यथानुसारमश्नूहेद् दोषान् शब्दार्थसम्भवान् ॥३९॥

संस्कृत व्याख्या—दोषान् वर्णयित्वा तदाश्रयान् वर्णयति—'पदे' इत्यादि । शब्दश्चार्थश्चेति शब्दार्थौ, ताभ्यां सम्भवो येषां ते शब्दार्थसम्भवास्तान् । शब्दसम्भवान् शब्ददोषान् अर्थसम्भवान् अर्थदोषान् इति भावः, यथानुसारं यथायोगं पदे वर्णसमूहात्मके, तस्य पदस्य अंशे प्रकृतिप्रत्ययरूपे, वाक्ये पदसमूहात्मके, वाक्यांशे खण्डवाक्ये तथा च वाक्यानां कदम्बः समूहस्तस्मिन् वाक्यकदम्बके महा-

वाक्ये काव्ये इति भावः, अभ्यूहेत् तर्कयेत् ज्ञायेदिति भावः। एवं दोषाः पञ्चविधाः--१. पददोषाः, २. पदांशदोषाः, ३. वाक्यदोषाः, ४. वाक्यांश(खण्डवाक्य)दोषाः, ५ वाक्यकदम्बक(महावाक्य)दोषाश्चेति। एते सर्वेऽपि पञ्चविधा दोषाः शब्ददोषा एव, पद-वाक्यादीनां शब्दभेदादेव। एवमेव अर्थदोषा अपि केचन पदार्थनिष्ठाः, अपरे वाक्यार्थनिष्ठाः न, केचन रसनिष्ठाः इति त्रैविध्यं यान्ति। एतेष्वेव शब्दार्थदोषेषु केचन शब्दार्थोभयनिष्ठा भवन्ति। एतेषां स्थितिः यथानुसारं कल्पनीया।

१. पददोषा यथा--१. श्रुतिकटुत्वम्, २. च्युतसंस्कृतित्वम्, ३. अप्रयुक्तत्वम्, ४. असमर्थत्वम्, ५. निहतार्थत्वम्, ६. अनुचितार्थत्वम्, ७. निरर्थकत्वम्, ८. अवाचकत्वम्, ९. व्रीडाश्लीलत्वम्, १०. जुगुप्साश्लीलत्वम्, ११. अमङ्गलाश्लीलत्वम्, १२. सन्दिग्धत्वम्, १३. अप्रतीतत्वम्, १४. शिथिलत्वम्, १५. ग्राम्यत्वम्, १६. नेयार्थत्वम्, १७. क्लिष्टार्थत्वम्, १८. अविमृष्टविधेयांशत्वम्, १९. विरुद्धमतिकारिता, २०. अन्यसङ्गतत्वञ्चेति।

२. पदांशदोषा यथा--१. श्रुतिकटुत्वम्, २. प्रतिकूलाक्षरत्वम्, ३. निहतार्थत्वम्, ४. अवाचकत्वम्, ५. अश्लीलत्वमिति।

३. वाक्यदोषा यथा--१. प्रतिकूलाक्षरत्वम्, २. उपहतविसर्गता, ३. लुप्तविसर्गता, ४. कुसन्धित्वम्, ५. विसन्धित्वम्, ६. हतवृत्तता, ७. कथितपदता, ८. विकृतत्वम्, ९. पतत्प्रकर्षता, १०. समाप्तपुनरात्तता, ११. अर्थान्तरपदापेक्षित्वम्, १२. अभवन्मतयोगत्वम्, १३. अस्थानस्थसमासत्वम्, १४. सङ्कीर्णत्वम्, १५. भग्नप्रक्रमतेति।

४. वाक्यांशदोषा यथा--१. कुसन्धित्वम्, २. विसन्धित्वम्, ३. अर्धान्तरपदापेक्षित्वम्, ४. अस्थानस्थसमासत्वादिकञ्चेति।

५. महावाक्यदोषा यथा--रसनिष्ठा अनौचित्यादयस्तु वाक्यकदम्बक(महावाक्य)दोषा भवन्ति।

अर्थदोषा यथा--१.अमतार्थान्तरत्वम्, २. अपुष्टार्थत्वम्, ३. कष्टत्वम्, ४. व्याहतत्वम्, ५. दुष्क्रमत्वम्, ६. ग्राम्यत्वम्, ७. सन्दिग्धत्वम्, ८. अनौचित्यम्,

९. विरुद्धत्वम्, १०. परिवृत्तित्वम्, ११. सहचराचारुत्वम् १२. विरुद्धान्योऽन्यसङ्गतित्वञ्चेति।

पदवाक्योभयगता दोषा यथा —१. श्रुतिकटुत्वम्, १. अश्लीलत्वम्, ३. अनुचितार्थत्वम्, ४. अयुमुक्तत्वम्, ५. ग्राम्यत्वम्, ६. अप्रतीतत्वम्, ७. सन्दिग्धत्वम्, ८. नेयार्थत्वम्, ९. निहतार्थत्वम्, १०. अवाचकत्वम्, ११. क्लिष्टार्थत्वम्, १२. विरुद्धमतिकारिता, १३. अविमृष्टविधेयांशत्वञ्चेत्यादयः ॥३९॥

हिन्दी व्याख्या—दोषों का प्रतिपादन करने के बाद उनके आश्रयों का प्रतिपादन करते हैं—'पदे' इत्यादि। शब्द तथा अर्थ से उत्पन्न होने वाले दोषों की कल्पना आवश्यकता अथवा औचित्य के अनुसार पद, पदांश, वाक्य, वाक्यांश तथा वाक्यकदम्ब (महावाक्य) में करनी चाहिये। इस तरह दोष पाँच प्रकार के होते हैं—१. पददोष, २. पदांशदोष, ३. वाक्यदोष, ४. वाक्यांशदोष तथा ५. वाक्यकदम्बक (महावाक्य) दोष। ये सभी पाँचों प्रकार के दोष शब्ददोष कहे जाते हैं, क्योंकि पद, पदांश, वाक्यांश, वाक्य तथा महावाक्य—ये सब शब्द के ही भेद हैं। इसी प्रकार अर्थदोषों में भी कुछ पदार्थदोष, कुछ वाक्यार्थदोष तथा कुछ रसदोष होते हैं। इन दोषों का परस्पर साङ्कर्य भी होता है, क्योंकि कुछ दोष पद, पदांश, वाक्य, तीनों में रहते हैं। कुछ दोष शब्दार्थोभयनिष्ठ भी होते हैं। इनकी स्थिति की कल्पना यथानुसार करनी चाहिये। इन दोषों का वर्गीकरण अधोलिखित रूपों में किया जा सकता है। जैसे—

१. पददोष—१. श्रुतिकटुत्व, २. च्युतसंस्कृतित्व, ३. अप्रयुक्तत्व, ४. असमर्थत्व, ५. निहतार्थत्व, ६. अनुचितार्थत्व, ७. निरर्थकत्व, ८. अवाचकत्व, ९. व्रीडाश्लीलत्व, १०. जुगुप्साश्लीलत्व, ११. अमङ्गलाश्लीलत्व, १२. सन्दिग्धत्व, १३. अप्रतीतत्व, १४. शिथिलत्व, १५. ग्राम्यत्व, १६. नेयार्थत्व, १७. क्लिष्टार्थत्व, १८. अविमृष्टविधेयांशत्व, १९. विरुद्धमतिकारिता, २०. अन्यसङ्गतत्व—इत्यादि।

२. पदांशदोष—१. श्रुतिकटुत्व, २. प्रतिकूलाक्षरत्व, ३. निहतार्थत्व, ४. अवाचकत्व, ५. अश्लीलत्व इत्यादि।

३. वाक्यदोष—१. प्रतिकूलाक्षरत्व, २. उपहतविसर्गता, ३, लुप्तविसर्गता, ४. कुसन्धित्व, ५. विसन्धित्व, ६. हतवृत्तता, ७. कथितपदता, ८. विकृतत्व, ९.

पतत्प्रकर्षता, १०. समाप्तपुनरात्तता, ११. अर्थान्तरपदापेक्षित्व, १२. अभवन्मतयोग, १३. अस्थानस्थसमासत्व, १४. सङ्कीर्णत्व, १५. भग्नप्रक्रमता इत्यादि ।

४. वाक्यांशदोष—१. कुसन्धित्व, २. विसन्धित्व, ३. अर्थान्तरपदापेक्षित्व, ४. अस्थानस्थसमासत्व इत्यादि ।

५. वाक्यकदम्बक (महावाक्य) दोष—रसनिष्ठ अनौचित्य आदि महावाक्य के दोष हैं । क्योंकि रस प्रबन्धगत ही होता है ।

अर्थदोष—१. अमतार्थान्तरत्व, २, अपुष्टार्थत्व, ३. कष्टत्व, ४. व्याहतत्व, ५. दुष्क्रमत्व, ६. ग्राम्यत्व, ७. सन्दिग्धत्व, ८. अनौचित्य, ९. विरुद्धत्व, १०. परिवृत्तित्व, ११.सहचराचारुत्व, १२. विरुद्धान्योन्यसङ्गतित्व इत्यादि ।

पदवाक्योभयगतदोष—१. श्रुतिकटुत्व, २. अश्लीलत्व, ३. अनुचितार्थत्व, ४. अप्रयुक्तत्व, ५. ग्राम्यत्व, ६. अप्रतीतत्व, ७. सन्दिग्धत्व, ८. नेयार्थत्व, ९. निहतार्थत्व, १०. अवाचकत्व, ११. क्लिष्टार्थत्व, १२. विरुद्धमतिकारिता, १३. अविमृष्टविधेयांशत्व इत्यादि ।

इसी प्रकार अन्य भी सङ्कीर्ण दोषों को समझना चाहिये ॥३९॥

दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम् ।
निवारयन्ति यस्त्रेधा दोषाङ्कुशमुशन्ति तम् ॥४०॥

संस्कृत व्याख्या—दोषाङ्कुशलक्षणमाह—दोषमित्यादि । स्वान्ते स्वकीयेऽन्तःकरणे सहृदयहृदये आपतितं समायातमुत्पन्नमिति भावः, तथा च विशृङ्खलं शृङ्खलया रहितं प्रतिबन्धरहितम्, निर्बाधमिति भावः, यथा स्यात्तथा प्रसरन्तं विस्तारं प्राप्नुवन्तं विकसन्तमिति दोषं काव्यात्मापकर्षकम्, यः त्रेधा प्रकारत्रयेण निवारयति दूरीकरोति तं काव्यज्ञाः दोषाङ्कुशं दोषनिवारकम् उशन्ति कथयन्ति । अङ्कुशस्तु वशीकरणसाधनं भवति । यथांऽकुशेन हस्तिपंको हस्तिनं वशीकरोति, वशीकृत्य च मार्गे सुचारुरूपेण चालयति । एवं दुष्टोऽपि गजः स्वकीयां दुष्टतां परित्यज्य सुगजो जायते । तथैव येन तत्त्वेन हृदये समायान्तं दोषं काव्यज्ञाः निवार्य तं गुणत्वम्, अदोषत्वम्, अत्याज्यतां च नयन्ति स दोषाङ्कुश इत्युच्यते ॥४०॥

हिन्दी व्याख्या—दोषाङ्कुश का लक्षण करते हैं—'दोषम्' इत्यादि। अन्तःकरण में सहृदयों के हृदय में आये हुये (उत्पन्न) तथा प्रतिबन्धरहित (निर्बाध) होकर फैलने वाले काव्यात्मापकर्षक दोष का, जो तीन प्रकार (गुणत्व, अदोषत्व तथा अत्याज्यता) से निवारण करे (दोष को दूर करे), उसे काव्यज्ञजन दोषाङ्कुश कहते हैं। अङ्कुश वशीकरण साधन होता है। जैसे-हस्तिपक अंकुश के द्वारा ही हाथी को वश में करता है तथा उसे मार्ग पर सुचारु रूप से चलाता है। एवं दुष्ट हाथी भी अङ्कुश के वशीभूत होकर अपनी दुष्टता को छोड़कर सुगज बन जाता है। उसी प्रकार काव्यज्ञ सहृदयजन जिस तत्त्व के द्वारा हृदय में आये हुये दोष को निवारित कर उसे गुण रूप में, अदोषरूप में अथवा अत्याज्यरूप में परिवर्तित कर देते हैं, उसे दोषाङ्कुश कहते हैं ॥४०॥

दोषे गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति।
भवन्तमथ वा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ ॥४१॥

संस्कृत व्याख्या—दोषाङ्कुशत्रयं प्रतिपादयन्नाह—'दोषे गुणत्वम्' इत्यादि। असौ दोषाङ्कुशः दोषो गुणत्वं तनुते विस्तारयति। यथा-श्रुतिकटुत्वमपि रौद्रादौ गुणतां याति। क्वचिच्चायं दोषत्वं निरस्यति खण्डयति, दोषत्वं दूरीकरोति। अनेन दोषानयनमात्रं क्रियते न तु तद्गुणत्वं क्रियत इति। अथ क्वचिदयं दोषाङ्कुशो भवन्तं जायमानं सहृदयहृदये उत्पद्यमानं दोषम् अत्याज्यतां ग्राह्यतां नयति, तदुपादेयतां प्रतिपादयति। एवं दोषाङ्कुशवशात् क्वचिद् दोषो दोष एव न भवति, क्वचित् गुणत्वं याति, क्वचिच्च दोषता निरस्यते किन्तु गुणत्वं न सम्पाद्यते, अपि तु तदुपादेयतैव क्रियत इति त्रयो दोषाङ्कुशा भवन्ति ॥४१॥

हिन्दी व्याख्या—यह दोषाङ्कुश कहीं दोष को गुण बना देता है। जैसे—श्रुतिकटुत्व दोष भी रौद्रादि रसों में गुण बन जाता है। कहीं तो यह दोषत्व को खण्डित कर उसे दूर कर देता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि दोष को गुण बना देता है। दोष को दूर कर देना तथा उसे गुण बना देना—दोनों दो बातें हैं। जैसे—रोगी के रोग को दूर करना तथा उसे बलवान् बना देना-

दोनों बातें अलग-अलग हैं। कहीं तो यह दोषाङ्कुश सहृदयों के हृदय में उत्पन्न होने वाले दोष को अत्याज्य बना कर ग्राह्य बना देता है। ग्राह्य बना देना तथा गुण बना देना भी पृथक्-पृथक् ही माने जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में भी रोगी को ही उदाहृत किया जा सकता है। रोग का दूर करना, रोगी को काम-काज के योग्य बना देना तथा उसे बलवान् बना देना--इन तीनों क्रियाओं मे जो अन्तर है, वही अन्तर इन तीनों दोषाङ्कुशों में समझना चाहिये ॥४१॥

मुखं चन्द्रश्रियं धत्ते श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः।
अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम् ॥४२॥

संस्कृत व्याख्या--प्रथमं दोषाङ्कुशं दोषे गुणत्वमुदाहरति--'मुखं चन्द्रश्रियम्' इत्यादि। श्वेतानि पलितानि शुभ्राणि च तानि श्मश्रूणि तान्येव कराणां किरणानामङ्कुराः प्ररोहास्तैः मुखमाननं चन्द्रस्य श्रियं शोभां धत्ते धारयति। अत्र श्वेतश्मश्रुयुक्तमुखस्य कस्यचिन्मुखसौन्दर्यवर्णनप्रसङ्गे तन्मुखस्य चन्द्रमसा, श्वेतश्मश्रुणश्च चन्द्रशुभ्रकराङ्कुरैः सादृश्यं प्रतिपाद्यत इति ग्राम्यजनैरिवोपमायाः प्रतिपादनात् ग्राम्यत्वं दोषः। हासस्थायिभावकस्य हास्यरसस्य प्रकरणे ग्राम्यत्वमपि दोषो गुणत्वमेव याति, हास्ये तदुपकारकत्वात् ॥४२॥

हिन्दी व्याख्या--दोष में गुणत्व नामक प्रथम दोषाङ्कुश का उदाहरण देते हैं--'मुखं चन्द्रश्रियम्' इत्यादि। पकी सफेद मूँछरूपी किरणों के अङ्कुरों से तुम्हारा मुख चन्द्रमा की शोभा को धारण करता है। यहाँ सफेद मूँछों से युक्त मुख वाले किसी पुरुष के मुख-सौन्दर्यवर्णन के प्रसङ्ग में उसके मुख का चन्द्रमा के साथ तथा सफेद मूँछों के बालों का श्वेत चन्द्रकिरणों के साथ सादृश्य प्रतिपादित है। इस प्रकार ग्राम्यजन के समान उपमा का प्रतिपादन करने के कारण यहाँ ग्राम्यत्व दोष की प्रतीति होती है। किन्तु हासस्थायिभाव वाले हास्यरस के प्रसङ्ग में यह ग्राम्यत्व दोष भी गुणत्व को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि यह हास्यरस में उपकारक ही है ॥४२॥

तव दुग्धाब्धिसम्भूतेः कथं जाता कलङ्किता।
कवीनां समयाद् विद्याविरुद्धोऽदोषतां गतः ॥४३॥

संस्कृत व्याख्या—द्वितीयं दोषाङ्कुशं दोषत्वनिरसनरूपमुदाहरति—'तव दुग्धाब्धि' इत्यादि। हे चन्द्र! दुग्धस्य क्षीरस्य अब्धिः सागरस्तस्मात् सम्भूतिः उत्पत्तिर्यस्य तस्य क्षीरसागरोत्पन्नस्य तव कलङ्किरा कलङ्कयुक्तता कथं कस्मात् जाता प्राप्ता? क्षीरसागरोत्पन्नस्य चन्द्रमसः कलङ्किता पुराणविरुद्धाऽस्ति। अतएवात्र विद्याविरुद्धत्वं नाम दोषः। किन्तु चन्द्रमसि कलङ्कवर्णनं कविसमयत्वेन प्रसिद्धम्। अतएव विद्याविरुद्धत्वं नाम दोषोऽप्ययं कविसमयात् अदोषतां दोषाभावतां गतः प्राप्तोऽस्ति। यथोक्तं साहित्यदर्पणे—

'कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता।'

अयं भावः—पुराणेषु चन्द्रद्वयस्य स्थितिर्दृश्यते। एकश्च क्षीरसागरमन्थनोत्थः, अपरश्च 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' इति दिशा अत्रिनयनज्योतिरूपः। तयोः क्षीरसागरोत्पन्नस्य निष्कलङ्कत्वम्, अत्रिनेत्रोत्पन्नस्य च कलङ्कित्वं तत्तत्पुराणेषु प्रसिद्धम्। महाकविभिस्तु समानरूपेणोभयोरपि चन्द्रमसोः कलङ्कित्वं वर्ण्यत इति चन्द्रे कलङ्कवर्णनं कविसमयः। कविसमयख्यातयस्तु प्रायो लोकविरुद्धा एव भवन्ति। यथा—

'पादाघातादशोकं विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यैः।'

इत्यादि। नायिकानां चरणाघातैः अशोके विकासो जायते तथा च योषितामास्यमद्यैः बकुले विकासो जायत इति तु लोके न सिद्धम्, केवलं कविसमयत्वेनैवैतेषां प्रसिद्धिरिति ॥४३॥

हिन्दी व्याख्या—दोषत्वनिरसनरूप द्वितीय दोषाङ्कुश का उदाहरण देते हैं—'तव दुग्धाब्धि' इत्यादि। हे चन्द्र! क्षीरसागर से उत्पन्न होने वाले तुम्हारी कलङ्किता कैसे है? अर्थात् जब तुम क्षीरसागर से उत्पन्न हो तो तुम्हारे भीतर कलङ्क कहाँ से आया? क्षीरसागर से उत्पन्न चन्द्रमा की कलङ्किता पुराणविरुद्ध है। अतएव यहाँ विद्याविरुद्धत्व दोष है, किन्तु चन्द्रमा में कलङ्कवर्णन कविसमयख्याति के रूप में प्रसिद्ध है। इसलिये यहाँ विद्याविरुद्धत्व नामक दोष भी अदोषता को प्राप्त हो जाता है, दोषाभावरूप हो जाता है। जैसे कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—

'कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातिविरुद्धता ।'

(कविसमय के रूप में प्रसिद्ध होने पर ख्यातिविरुद्धता भी गुण बन जाता है ।)

तात्पर्य यह है कि--पुराणों में दो चन्द्रमा की कल्पना है—१. क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न चन्द्रमा तथा २. अत्रि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न ज्योति (अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः) अर्थात् अत्रिनयनरूप चन्द्रमा । इन दोनों में क्षीरसागरोत्पन्न चन्द्रमा निष्कलङ्क तथा अत्रिनेत्ररूप चन्द्रमा कलङ्कित्वरूप में प्रसिद्ध है । महाकवियों के द्वारा तो दोनों चन्द्रों में समानरूप से कलङ्क का वर्णन किया जाता है । इस प्रकार चन्द्रमा में कलङ्कवर्णन कविसमयख्याति है । कविसमयख्यातियाँ प्रायः लोकविरुद्ध ही हुआ करती हैं । जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा है--

'पादाघातादशोकं विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यैः ।' (नायिका के चरणाघात से अशोक विकसित होता है तथा नायिकाओं के मुख से मद्य का कुल्ला कर देने पर मौलश्री में विकास होता है ।) नायिका के चरणाघात से अशोक तथा आस्यमद्य (मद्य के कुल्ला) से मौलश्री का विकसित होना लोक में नहीं देखा जाता । यह तो केवल कविसमयप्रसिद्धि है । इस प्रकार कविसमयख्याति से विद्याविरुद्धत्व अदोषरूप हो जाता है ॥४३॥

दधार गौरी हृदये देवं हिमकराङ्कितम् ।
अत्र श्लेषोदयान्नैव त्याज्यं हीति निरर्थकम् ॥४४॥

संस्कृत व्याख्या— तृतीयं दोषस्यात्याज्यतारूप दोषाङ्कुशमुदाहरति--'दधार गौरी' इत्यादि । गौरी पार्वती हिमकरश्चन्द्रः तेन अङ्कितं चिह्नितं चन्द्रमौलिं भगवन्तं शङ्करं हृदये मानसे दधार धारयामास । पक्षे--गौरी गौरवर्णा काचिन्नायिका मकराङ्कितं मकरध्वजं देवं कामदेवं हृदये दधार धारयामास हि । अत्र हिमकर + अङ्कितम्, तथा च हि + मकर + अङ्कितम् इति पदच्छेदादर्थद्वयस्य प्रतिपादनं क्रियत इति श्लेषालङ्कारः । हि + मकराङ्कितमिति द्वितीयपक्षे 'हि'-पदं निरर्थकम् । एवञ्चात्र निरर्थकत्वं दोषोऽपि प्रतीयते किन्त श्लेषस्य महिम्ना

स दोषोऽत्याज्यतां याति यतो हि हिपदस्यानुपादाने श्लेषोत्थानमेव स्यादिति। अतएवात्र श्लेषस्योदयात् 'हि' इति निरर्थकत्वमपि दोषः नैव त्याज्यः ॥४४॥

हिन्दी व्याख्या—दोष के अत्याज्यतारूप तीसरे दोषाङ्कुश का उदाहरण देते हैं—'दधार गौरी' इत्यादि। गौरी (पार्वती) ने हिमकर (चन्द्रमा) से अङ्कित (चिह्नित) अर्थात् चन्द्रमा को धारण करने वाले चन्द्रमौलि भगवान् शङ्कर को अपने हृदय में धारण किया। नायिकापक्ष में—गौरी (गौरवर्ण वाली कोई नायिका) ने मकर (मगर) से अङ्कित (चिह्नित) मकरध्वज देव (कामदेव) को अपने हृदय में धारण किया। यहाँ हिमकर+अङ्कित तथा हि+मकर+अङ्कित, इस प्रकार पदच्छेद करके दो अर्थों का प्रतिपादन किया जाता है। अतः श्लेष नामक अलङ्कार की यहाँ निष्पत्ति होती है। हि+मकराङ्कितम्, इस द्वितीय पदच्छेद में हि पद निरर्थक हो जाता है। इस प्रकार यहाँ निरर्थकत्व दोष की भी प्रतीति होती है किन्तु श्लेष की महिमा से यह दोष अत्याज्य है। यदि इस दोष का त्याग करते हुये 'हि' पद को न रखा जाय तो श्लेष का उत्थान ही नहीं होगा तथा प्रथम अर्थ की प्रतीति कथमपि नहीं हो पायेगी। अतएव श्लेष के कारण यहाँ निरर्थक होता हुआ भी 'हि' पद अत्याज्य है। इस प्रकार दोष की अत्याज्यता (ग्राह्यता) भी सिद्ध है ॥४४॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
द्वितीयस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥४५॥

॥ इति श्रीजयदेवविरचिते चन्द्रालोके दोषनिरूपणं नाम द्वितीयो मयूखः समाप्तः ॥

संस्कृत व्याख्या—पद्यमिदं पूर्वं प्रथमे मयूखे व्याख्यातम्। केवलम् असौ द्वितीयो मयूखः इति विशेषः ॥४५॥

हिन्दी व्याख्या—महादेव एवं सुमित्रा के पुत्र सुकवि जयदेव के द्वारा

विरचित चन्द्रालोक का यह द्वितीय मयूख चिरकाल तक सहृदयों को आनन्दित करता रहे ॥४५॥

॥ श्रीजयदेव के द्वारा विरचित चन्द्रालोक में दोषनिरूपण नामक द्वितीय मयूख समाप्त हुआ ॥

तृतीयो मयूखः

अथ लक्षणानि

❀

अल्पाक्षरा विचित्रार्थख्यातिरक्षरसंहतिः ।

उषाकान्तेनानुगतः शूरः शौरिरयं पुनः ॥१॥

संस्कृत व्याख्या—तत्र काव्यस्वरूपे वाचो विशेषणत्वेन प्रतिपादिते 'लक्षणवती' इत्यंशे उक्तस्य लक्षणस्य किं स्वरूपमिति विशेषजिज्ञासायां लक्षणभेदप्रतिपादनमुखेन तत्स्वरूपं प्रतिपाद्यते। तत्र प्रथममक्षरसंहतिनामकस्य लक्षणस्य स्वरूपमुच्यते—अल्पाक्षरेत्यादि। अल्पानि किञ्चित्संख्याकानि अक्षराणि वर्णाः यस्यां सा, विचित्राणां चमत्कारकारिणाम् अर्थानां ख्यातिः प्रकाशनं यया यस्यां वा सा, अक्षराणां वर्णानां संहतिः समवायः अक्षरसंहतिनामकं लक्षणमुच्यते। एवमल्पाक्षराणां स समुदायो येन विचित्रार्थप्रकाशनं स्यात् अक्षरसंहतिनामकं लक्षणमिति।

अस्योदाहरणमाह—'उषाकान्तेन' इत्यादि। उषा तन्नाम्नी बाणासुरकन्या तस्याः कान्तोऽनिरुद्धस्तेन अनुगतः अनुयातः अयं दृश्यमानः शौरिः शूरस्य यदुवंशीयस्या अयं दृश्यमानः शौरिः शूरस्य यदुवंशीयस्यापत्यं पुमान् यदुवंशोत्पन्नो यादवः शूरः वीरोऽस्ति। अत्र उषाकान्तानुगतस्य कस्यचिद् यादवस्य शौर्यं वर्णयित्वा उषा नाम्नी बाणासुरकन्या, तया च स्वप्ने अनिरुद्धदर्शनम्, सखिसाहाटयेन तदभिज्ञानम्, तत्सन्देशेन च अग्निवेष्टिते तस्मिन् पुरे कृष्णपौत्रस्यानिरुद्धस्य प्रवेशः, बाणासुरविजयत्वेन तच्छूरत्वम् उषानिरुद्धयोः परिणयश्चेत्यादि बृहत् कथानकमल्पैरेवाक्षरैः उपस्थापितमिति अक्षरसंहतिर्नाम लक्षणमत्र।

हिन्दी व्याख्या—काव्य के स्वरूप में उक्त 'वाक्' के विशेषण के रूप में कहे गये 'लक्षणवती' इस अंश में उक्त लक्षण का क्या स्वरूप है, लक्षण किसे कहते

हैं ? इस विशेष जिज्ञासा में भेदप्रतिपादन के द्वारा लक्षण का स्वरूप प्रतिपादन करते हुये पहले अक्षरसंहति नामक लक्षण का स्वरूप बतलाते हैं—'अल्पाक्षरा' इत्यादि ।

अल्प अक्षरों वाला, अक्षरों का वह समुदाय, जिससे विचित्र (चमत्कारकारी) अर्थ का प्रकाशन होता है, अक्षरसंहति नामक लक्षण कहलाता है। इसका उदाहरण है—'उषाकान्तेन' इत्यादि। उषा के पति अनिरुद्ध के द्वारा अनुगत यह शूर (यादव) के वंश में उत्पन्न यह (यादव) वीर है।

प्रस्तुत उदाहरण में उषा नाम की बाणासुर की पुत्री, स्वप्न में उसके द्वारा अनिरुद्ध का दर्शन, सखी की सहायता से अनिरुद्ध का अभिज्ञान, उसके सन्देश से अग्निवेष्टित बाणासुर के पुर में कृष्णपौत्र अनिरुद्ध का प्रवेश, बाणासुर एवं कृष्ण के बीच होने वाला वह भयङ्कर युद्ध, बाणासुर के ऊपर कृष्ण का विजय, बाणासुर की मृत्यु के उपरान्त उषा के साथ अनिरुद्ध का विवाह, इत्यादि एक लम्बा कथानक इन थोड़े से अक्षरों के द्वारा वर्णित कर दिया गया है। अतः यहाँ अक्षरसंहति नामक लक्षण है ॥१॥

विशेष—लक्षण का तात्पर्य यहाँ अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषशून्य, स्वरूपप्रतिपादक लक्षण से नहीं है। यह लक्षण काव्य के उपकारक (उत्कर्ष) अनेक तत्त्वों में से अन्यतम है। अतः इस लक्षण का लक्षण 'काव्योत्कर्षकान्यतरत्वम्' किया जा सकता है। ग्रन्थकार ने काव्योत्कर्षक सभी गुणालङ्कारादि का सामान्य लक्षण किया है, किन्तु इस लक्षण का सामान्य स्वरूप नहीं बतलाया है। लक्षण की बात केवल यहीं उठाई गई है। अन्य अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में लक्षण की चर्चा नहीं है। अतः काव्योत्कर्षक तत्त्व के रूप में गृहीत इस तत्त्व के सामान्यस्वरूप का निर्धारण ग्रन्थकार नहीं कर सके। विशेष भेदों के प्रतिपादनपूर्वक ही इसका स्वरूप स्पष्ट किये हैं। यह लक्षण कहीं दोषाभाव स्वरूप है, कहीं गुणावह है। इसका कोई निश्चित रूप है ही नहीं। जैसे—किसी स्त्रीविशेष या पुरुषविशेष में विशेष प्रकार के चिह्न (लक्षण) देखे जाते हैं, उन्हें लक्षण नाम से ही अभिहित किया जाता है। ये लक्षण पशु-पक्षियों में भी

होते हैं, जिनके आधार पर उनके उत्कृष्टत्वापकृष्टत्व आदि का ज्ञान होता है। लोक में प्रचलित यही लक्षण, जिसका कोई निश्चित रूप नहीं है, ग्रन्थकार के द्वारा यहाँ लक्षण नाम से ही काव्योत्कर्षक तत्त्व के रूप में प्रतिपादित है।

शोभा ख्यातोऽपि यद्दोषो गुणकीर्त्या निषिध्यते।
मुधा निन्दन्ति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते ॥२॥

संस्कृत व्याख्या—शोभां लक्षयति—शोभेति। ख्यातः प्रसिद्धः अपि दोषः यत् गुणानां कीर्त्या यशसा उत्कृष्टगुणकीर्तनेनेति यावत् निषिध्यते प्रतिषिध्यते गुणकीर्तनेन यत्र दोषत्वमाच्छाद्यते तत्र 'शोभा' नामकं लक्षणं भवति। अर्थाद्यत्र वर्णनीये वस्तुनि वस्तुत एव दोषाः भवन्ति किन्तु दोषवतस्तस्य वस्तुनस्तथोत्कृष्टत्वेन वर्णनं क्रियेच्चेद्यथा तत्र दोषो न प्रतीयेत अपितु गुणानामेव प्रतीतिः स्यात्तत्र शोभानामकं लक्षणं भवति, दोषवतोऽपि शोभावहत्वात्।

अस्योदाहरणं यथा—'मुधा निन्दन्ति' इत्यादि। संसारं जनाः मुधा व्यर्थमेव निन्दति निन्दां कुर्वन्ति तदनित्यतादिकं प्रतिपादयन्ति। यत्र यस्मिन् संसारे कंसस्य तन्नामकस्य दुष्टस्य स्वमातुलस्य अरिः शत्रुः तद्विनाशकः पूज्यते। श्रीकृष्णपूजनमस्मिन् संसारे एव सम्भवति नान्यत्र, एवञ्च श्रीकृष्णपूजनरूपगुणत्वात् संसारस्यास्य समधिकमहत्त्वात् नायं निन्दाविषयः ॥२॥

हिन्दी व्याख्या—शोभा का लक्षण करते हैं—'शोभा' इत्यादि। अत्यन्त प्रसिद्ध दोष भी जहाँ गुणकीर्तन के द्वारा निषिद्ध हो जाता है, वहाँ शोभा नामक लक्षण माना जाता है। अर्थात् जिस वर्णनीय वस्तु में वस्तुतः अनेक प्रकार के दोष हों, किन्तु उसका वर्णन ऐसा कर दिया जाय, जिससे उसका दोष तो छिप ही जाय, उसके महत्त्व का भी ऐसा प्रतिपादन हो जाय जिससे उसकी ग्राह्यता बढ़ जाय, तो वहाँ शोभा नामक लक्षण होगा। इस लक्षण का आधार है—दोष का ही शोभावह हो जाना।

इसका उदाहरण जैसे—'मुधा निन्दन्ति' इत्यादि। जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा होती हैं, उस संसार की लोग व्यर्थ निन्दा करते हैं। संसार वस्तुतः नश्वरता तथा निःसारता आदि अनेक दोषों से युक्त है किन्तु कृष्ण की पूजा का

सौभाग्य भी संसार को ही प्राप्त है। इस संसार के अतिरिक्त ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ कृष्ण की पूजा की जा सके। इस प्रकार श्रीकृष्णपूजनरूप गुण के कारण संसार का दोष तो छिप ही गया, उसका महत्त्व भी बढ़ गया। इसलिये इसे शोभालक्षण का उदाहरण मानते हैं ॥२॥

अभिमानो विचारश्चेदूहितार्थनिषेधकृत्।
इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि ॥३॥

संस्कृत व्याख्या—अभिमानलक्षणं लक्षयति—अभिमानेत्यादि। ऊहितस्तर्कितः कल्पनाविषयीकृतो योऽर्थस्तस्य निषेधकृत् युक्तिद्वारा प्रतिषेधको विचारः कल्पना चेत् यदि क्रियेत् तदा अभिमानः अभिमाननामकं लक्षणं भवति।

अस्योदाहरणं यथा—'इन्दुः' इत्यादि। यदि असौ इन्दुश्चन्द्रः तदा कथं कस्माद्धेतोः तीव्रः एवमुष्णः, यदि चासौ सूर्यो दिनमणिस्तदा कथं निशि रात्रौ दीप्यत इति ? अत्र विरहिणी काचिन्नायिका विरहोद्दीपकं चन्द्रं दृष्ट्वा विरहानलदन्दह्यमानहृदया चन्द्रकिरणैरपि भुञ्ज्यमाना प्रथमं तर्कितमाकाशेऽसौ चन्द्रो विराजते इति रूपेण कल्पितं चन्द्रस्य चन्द्रत्वं तत्तीव्रत्वेन निषेधयति। पुनश्च तं सूर्यत्वेन कल्पयति किन्तु निशासमयात् तन्निषेधयति। एवञ्चात्र प्रथमं कल्पितस्य विचारस्य निषेधात् अभिमाननामकं लक्षणमिति। इदमेव निश्चयगर्भस्य सन्देहस्योदाहरणम् ॥३॥

हिन्दी व्याख्या—अभिमान का लक्षण करते हैं—'अभिमान' इत्यादि। पहले कल्पना के द्वारा उपस्थित किये गये अर्थ का यदि युक्तिपूर्वक निषेध कर दिया जाय, वहाँ अभिमान नामक लक्षण होता है।

इसका उदाहरण जैसे—'इन्दुर्यदि' इत्यादि। यदि यह चन्द्रमा है तो तीव्र (उष्ण) क्यों है ? तथा यदि यह सूर्य है तो रात में क्यों है ? यहाँ कोई विरहिणी नायिका विरहोद्दीपक चन्द्रमा को देखकर विरहानल से दग्धहृदया वह चन्द्रमा के किरणों के द्वारा भी भुञ्जित हो जाती है। पहले तो वह चन्द्रमा को समझ रही है फिर तर्कसङ्गत ढंग से उसका खण्डन कर रही है कि चन्द्रमा उष्ण नहीं होता। यदि यह चन्द्रमा होता तो इसमें उष्णता नहीं रहती, किन्तु यह

उष्ण प्रतीत हो रहा है। अतः यह चन्द्रमा नहीं है। फिर उसकी सूर्य के रूप में कल्पना करती है तथा तत्काल इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि सूर्य दिन में देदीप्यमान होता है, रात में नहीं। रात में सूर्य कहाँ से आयेगा ? अतः यह सूर्य नहीं है। इस प्रकार पहले कल्पित वस्तुओं का युक्तिपूर्वक खण्डन कर देने के कारण यह अभिमान नामक लक्षण का उदाहरण है। यही निश्चयगर्भ सन्देहालङ्कार का उदाहरण है ॥३॥

हेतुस्त्यक्त्वा बहून् पक्षान् युक्त्यैकस्मावधारणम्।
नेन्दुर्नार्कोऽयमौर्वाग्निः सागरादुत्थितो दहन् ॥४॥

संस्कृत व्याख्या—हेतुनामकं लक्षणं लक्षयति—'हेतुस्त्यक्त्वा' इत्यादि। बहून् अनेकान् पक्षान् त्यक्त्वा परित्यज्य युक्त्या उपयुक्तकारणवशात् एकस्यान्यतमस्य अवधारणं ज्ञानं ग्रहणं वा क्रियते तत्र हेतुरिति। अयमेव निश्चयान्तसन्देहालङ्कार इति कथ्यते।

अस्योदाहरणं यथा—नेन्दुरित्यादि। अयं दृश्यमानः इन्दुश्चन्द्रो न नास्ति, यतो हि दहन्नस्ति। अर्कः सूर्योऽपि न नास्ति यतो हि सागरादुत्थितः अपितु दहन् प्रज्वलन् सागरात् समुद्रात् उत्थितः बहिरागतोऽयम् और्वाग्निः वडवानलोऽस्ति। अत्र समुद्रे तेजो दृष्ट्वा अनेके पक्षाः जागृताः। तत्र च प्रथमद्वितीयपक्षौ त्यक्तौ, दहनात्मकत्वात् समुद्रोत्पन्नत्वाच्च और्वाग्नित्वेन तदवधारणं कृतमिति। इन्दुर्न दहति, सूर्यः समुद्रान्न जायते और्वाग्नौ तु इदं धर्मद्वयमपि भवतीति और्वाग्निरयमिति निश्चये हेतुत्वात् हेतुनामकस्योदाहरणमिदम् ॥४॥

हिन्दी व्याख्या—हेतु नामक लक्षण का लक्षण करते हैं—'हेतुस्त्यक्त्वा' इत्यादि। प्रथमतः प्रतिपाद्य अनेक पक्षों को छोड़कर जहाँ कोई विशेष हेतु देते हुये उपयुक्त कारणवश एक पक्ष में अवधारणा निश्चय किया जाय, वहाँ हेतुनामक लक्षण होता है। इसका साहित्यदर्पण में निश्चयान्त सन्देह अलङ्कार कहा गया है।

इसका उदाहरण जैसे—नेन्दुरित्यादि। यह चन्द्रमा नहीं है, क्योंकि जल रहा है। यह सूर्य भी नहीं है, क्योंकि समुद्र से उत्थित है। अपितु जलता हुआ

तथा समुद्र से निकला हुआ यह वडवानल है। इस प्रकार समुद्र से निकलते हुये तेज के विषय में तीन पक्ष उपस्थित हैं—चन्द्र, सूर्य तथा वड़वानल। इनमें से वाहकता के कारण चन्द्रमा तथा समुद्र से निकलने के कारण सूर्य को छोड़ कर वडवानल के पक्ष में अवधारण (निश्चय) किया गया है, क्योंकि दाहकता तथा समुद्रोत्पन्नता—ये दोनों ही धर्म वडवानल में हैं। अतः एक पक्ष में विशेष हेतु का प्रतिपादन करने के कारण हेतु नामक लक्षण का यह उदाहरण हुआ ॥४॥

प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारणानामनादरः।
न युद्धेन भ्रुवोः स्पन्देनैव वीरा निपातिताः ॥५॥

संस्कृत व्याख्या—प्रतिषेधं लक्षयति—'प्रतिषेधः' इत्यादि। कस्यचित् कार्यस्य सिद्धयर्थं प्रसिद्धानां ख्यातानां सर्वतो विदितानां कारणानां कार्यसाधक-हेतूनाम् अनादरं कृत्वा प्रतिषेधं कृत्वेति कस्यचिदन्यस्याप्रसिद्धस्य नवीनस्य हेतोः स्थापनायां प्रतिषेधनामकं लक्षणं भवति। प्रसिद्धकारणानादरत्वे सति नवीना-प्रसिद्धकारणस्थापनत्वं प्रतिषेधत्वमिति प्रतिषेधलक्षणं फलितम्।

अस्योदाहरणं यथा—'न युद्धेन' इत्यादि। युद्धेन वीराणां सङ्ग्रामेण वीरा योद्धारो न निपतिताः अपि तु भ्रुवोः कामिनीकटाक्षयोः स्पन्दनेन सञ्चालनेनैव निपतिता जाता इति। वीराणां निपाते युद्धं प्रसिद्धं कारणमस्ति। सर्वे आबाल-वृद्धा जानन्ति यत् सङ्ग्रामे वीराणां निपातो जायते। अस्य प्रसिद्धस्य कारणस्य निषेधं कृत्वा अपरस्य नवीनस्य नायिकानेत्रस्पन्दनरूपस्य कल्पनया प्रतिषेधनामकं लक्षणमत्रास्तीति ॥५॥

हिन्दी व्याख्या—प्रतिषेध का लक्षण करते हैं— 'प्रतिषेधः' इत्यादि। किसी कार्य की सिद्धि के लिये प्रसिद्ध (सर्वजनविदित) कारणों का अनादर करके किसी नवीन (अप्रसिद्ध) कारण की स्थापना करना प्रतिषेध (नामक लक्षण) कहलाता है। इस प्रकार प्रसिद्ध कारण का अनादरपूर्वक नवीन (अप्रसिद्ध) कारण की स्थापना करना प्रतिषेध लक्षण का लक्षण हुआ।

इसका उदाहरण जैसे—'न युद्धेन' इत्यादि। युद्ध के द्वारा वीर (पृथ्वी पर)

नहीं गिरे हैं, अपितु नायिकाओं के भ्रूस्पन्दन (कटाक्ष) से गिरे हैं। वीरों के गिरने में युद्ध प्रसिद्ध कारण है--इस बात को सभी आबालवृद्ध जानते हैं। किन्तु इस प्रस्तुत वाक्य में वीरनिपात के प्रसिद्ध कारण (युद्ध) का निषेध करके दूसरे नवीन नायिका नेत्रस्पन्दन (कटाक्ष) की कल्पना की गई है। अतः यह प्रतिषेध नामक लक्षण का उदाहरण है ॥५॥

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथानृतम्।
ईदृशैश्चरितै राजन् सत्यं दोषाकरो भवान् ॥६॥

संस्कृत व्याख्या--निरुक्तं लक्षयति--निरुक्तं स्यादित्यादि। नाम्नः कस्यचित् संज्ञापदस्य सत्यं वास्तविकं व्याकरणनियमानुकूलं यथा स्यात्तथा तथा अथवा अनृतं मिथ्या व्याकरणनियमानुकूलं स्वकल्पनाप्रसूतं निर्वचनं प्रकृतिप्रत्ययविचारपूर्वकमर्थव्याख्यानं स्यात् भवेन्नाम तत् निरुक्तं नाम लक्षणमिति। एवं संज्ञानिर्वचनत्वं निरुक्तत्वमिति निरुक्तलक्षणं फलितम्।

अस्योदाहरणं यथा--'ईदृशैश्चरितैः' इत्यादि। हे राजन्! ईदृशैः एवम्प्रकारकैः चरितैः आचरणैः भवान् सत्यं वस्तुत एवं दोषाकरः रजनीकरश्चन्द्रः पक्षे दोषाणाम् आकरः समूहोऽसि। अत्र करोतीति करः इति व्युत्पत्तौ कृधातोः 'अच्' प्रत्ययः। ततश्च दोषापदेन षष्ठीतत्पुरुषः दोषायाः करः दोषाकरो रात्रिसम्पादक इति तथा आकरः समूहार्थकः रूढपदम् अनेन दोषाणामप्रकृष्टतासम्पादकानां तत्त्वानामाकर इति षष्ठीतत्पुरुषः। अनयोः प्रथमपक्षे व्याकरणनियमानुकूलप्रकृतिप्रत्ययथोः विचारपूर्वकं दोषाकरपदेन चन्द्ररूपस्यार्थस्य निर्वचनं क्रियते। द्वितीये च पक्षे समूहार्थे रूढभूतेन आकरपदेन प्रकृतिप्रत्ययविचारं विनैव दोषापदेन समासं कृत्वा दोषसमवायात्मकस्यार्थस्य निर्वचनं क्रियत इति निरुक्तलक्षणस्योदाहरणमिदम् ॥६॥

हिन्दी व्याख्या--निरुक्त का लक्षण करते हैं--'निरुक्तं स्यात्' इत्यादि। किसी नाम (संज्ञापद) का सत्य (व्याकरणनियमानुकूल प्रकृतिप्रत्यय विचारपूर्वक) अथवा मिथ्या (प्रकृतिप्रत्यय) विचार के बिना ही निर्वचन कथन

(सम्यगर्थप्रतिपादन) किया जाय, वहाँ निरुक्त नामक लक्षण होता है। इस प्रकार संज्ञा के निर्वचनत्व को निरुक्त कहते हैं—यह लक्षण फलित हुआ।

इसका उदाहरण जैसे—'ईदृशैश्चरितैः' इत्यादि। हे राजन्! इस प्रकार के आचरणों के द्वारा आप वस्तुतः दोषाकर (रजनीकर, चन्द्रमा पक्ष में—दोषों के आकर, समूह) हैं। यहाँ 'करोतीति' इस व्युत्पत्ति में कृधातु से 'अच्' प्रत्यय करने पर 'करः' पद तथा 'दोषा' के साथ उसका 'दोषायाः करः' इस व्युत्पत्ति में षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर 'दोषाकरः' पद निष्पन्न होकर रजनीकररूप अर्थ का प्रतिपादन करता है। दूसरे पक्ष में 'आकर'-पद समूह अर्थ में रूढ है तथा 'दोषाणाम् आकरः' इस व्युत्पत्ति में षष्ठीतत्पुरुष समास करने पर निष्पन्न 'दोषाकर' पद दोषसमूह या दोष की खान रूप अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार प्रथम अर्थ में प्रकृति प्रत्यय के अर्थ का विचार करते हुये तदनुकूल अर्थ का निर्वचन किया जाता है तथा दूसरे अर्थ में प्रकृतिप्रत्यय का कोई विचार नहीं करना पड़ता किन्तु अर्थ का निर्वचन हो जाता है। इनमें से प्रथम निर्वचन को सत्य तथा द्वितीय को अनृत कहेंगे, क्योंकि प्रथम व्याकरणनियमानुकूल तथा दूसरे में व्याकरण नियमों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः यह निरुक्त का उदाहरण है ॥६॥

स्यान्मिथ्याध्यवसायश्चेदसतौ साध्यसाधने।
चन्द्रांशुसूत्रग्रथितां नभःपुष्पस्रजं वह ॥७॥

संस्कृत व्याख्या—मिथ्याध्यवसायं लक्षयति—चेत् यदि साध्यं पक्षभूतं कार्यम्, साधनं हेतुभूतं कारणञ्चेति ते साध्यसाधने कार्यकारणे असती मिथ्याभूते स्यातां तदा तयोः कार्यकारणयोः अध्यवसायस्य ज्ञानस्य मिथ्यात्वात् मिथ्याध्यवसायनामकं लक्षणं भवति। एवमसत्साध्यसाधनत्वं मिथ्याध्यवसायत्वमिति तल्लक्षणम्।

अस्योदाहरणं यथा—'चन्द्रांशु' इत्यादि। चन्द्रस्य अंशवः किरणान्येव सूत्रं तेन ग्रथितां गुम्फितां नभःपुष्पम् आकाशकुसुममेव स्रक् माला तं वह धारय। अत्र नभःपुष्पस्रक् साध्यं (कार्यं) चन्द्रांशुसूत्रं साधनं कारणमिति द्वयोरपि

साध्यसाधनयोः असत्त्वम्। चन्द्राशोः सूत्रत्वाभावात् नभःपुष्पाणां चासम्भवादिति। अनयोः मिथ्याप्रतिपादनत्वात् मिथ्याध्यवसायत्वम् ॥७॥

हिन्दी व्याख्या—मिथ्याध्यवसाय का लक्षण करते हैं—स्यान्मिथ्येत्यादि। यदि साध्य (पक्षभूत कार्य) तथा साधन (हेतुभूत कारण)—दोनों असत्य हों तो इन दोनों का मिथ्या ज्ञान होने के कारण मिथ्याध्यवसाय नामक लक्षण होता है। इस प्रकार असत्य साध्यसाधनत्व मिथ्याध्यवसाय का लक्षण है।

इसका उदाहरण है 'चन्द्रांशु' इत्यादि। चन्द्रकिरणरूपी सूत्र में गुम्फित आकाशपुष्प की माला को धारण करो। इस वाक्य में नभःपुष्प की माला साध्य है तथा चन्द्रांशुसूत्र साधन। ये दोनों ही साध्य तथा साधन असत् हैं, क्योंकि चन्द्रांशु में सूत्रत्व का अभाव है। एवं नभःपुष्प का होना असम्भव है। इनके मिथ्या प्रतिवादन के कारण यह मिथ्याध्यवसाय का उदाहरण हुआ ॥७॥

सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये।
युवामेवेह विख्यातौ त्वं बलैर्जलधिर्जलैः ॥८॥

संस्कृत व्याख्या—सिद्धिं लक्षयन्नाह—'सिद्धिः ख्यातेषु' इत्यादि। यत्र ख्यातेषु प्रसिद्धेषु कारणेषु तुल्यतायाः सादृश्यस्य उक्तये प्रतिपादनाय प्रसिद्ध-गुणवस्तुभिः सह सादृश्यार्थं चेत् यदि कीर्त्यते कस्यचिद् वस्तुनो वर्णनं क्रियते तदा सिद्धिर्नाम लक्षणं भवति।

अस्योदाहरणं यथा—'युवामेवेहे'त्यादि। इह अस्मिन् जगति युवा द्वौ एव विख्यातौ प्रसिद्धौ, कौ इति चेत्तदोच्यते—बलैः सैनिकैः त्वं राजा, जलैः नीरैः जलधिः सागरश्चेति। अत्र जलैर्जलधिः प्रसिद्धोऽस्ति। तेन सह वर्णनात् राज्ञोऽपि ख्यातिः सिद्धेति सिद्धिनामकस्य लक्षणस्योदाहरणमिदम् ॥८॥

हिन्दी व्याख्या—सिद्धि का लक्षण करते हैं—'सिद्धिः ख्यातेषु' इत्यादि। यत्र सादृश्य प्रतिपादन के लिये किसी प्रसिद्ध वस्तु के साथ किसी का वर्णन किया जाय, वहाँ सिद्धि नामक लक्षण होता है। नाम के अनुरूप इसका लक्षण भी है।

इसका उदाहरण जैसे—'युवामेवेह' इत्यादि। इस संसार में तुम दोनों ही प्रसिद्ध हो—सैन्य के कारण तुम (राजा) तथा जल के कारण जलधि। यहाँ जल के कारण जलधि प्रसिद्ध है। सादृश्य प्रतिपादन के लिये जलधि के साथ राजा का भी वर्णन किया गया है। अतः समुद्र के साथ राजा भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार यह सिद्धि नामक लक्षण का उदाहरण है ॥८॥

युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद्विचित्रार्थान्तरान्वयात् ।
नवस्त्वं नीरदः कोऽपि स्वर्णैर्वर्षसि यन्मुहुः ॥९॥

संस्कृत व्याख्या—युक्ति लक्षयति— युक्तिरित्यादि। अन्योऽर्थो अर्थान्तरं विचित्रम् अपूर्वं च तदर्थान्तरमिति विचित्रार्थान्तरम्, तस्य अन्वयात् सम्बन्धात् अपूर्वार्थ-सम्बन्धेन चेद् यदि विशेषस्य अर्थस्य सिद्धिर्जायते तदा युक्तिनामकं लक्षणं भवति। अर्थाद्यत्र वर्णनीये वस्तुनि कस्यचिद् विशिष्टस्यार्थस्य प्रयोजनस्य वा सिद्धिः स्यात्तदा तस्मिन् वर्णनीये युक्तिविशेषस्य वर्णनात् युक्तिनामकं लक्षणं भवतीति।

अस्योदाहरणं यथा—'नवस्त्वम्' इत्यादि। हे राजन्! त्वं कोऽपि विलक्षणः नवो नवीनः नीरदः मेघोऽसि यत् यतो हि मुहुः भूयो भूयः स्वर्णैः सुवर्णैः वर्षसि सुवर्णवर्षणं करोषीति। दानशीलस्य कस्यचिद्राज्ञो वर्णनमिदम्। अत्र सुवर्णवर्षणं विचित्रमर्थोऽस्ति, अस्य सम्बन्धात् राजनि नीरदत्वं प्रतिपादितम्। नीरदस्य कार्यमस्ति जलवर्षणम्, अयं स्वर्णवर्षणं करोतीति विलक्षणत्वम्। एवं स्वर्णवर्षणरूपविचित्रार्थान्वयात् राजनि विशेषस्य विलक्षणजलदत्वस्य सिद्धिसिति रूपक-रूपयुक्त्या राजनि दातृत्वरूपवैलक्षण्यात् विलक्षणजलदत्वसिद्धिः। अतएवात्र युक्तिनामकं लक्षणमिति ॥९॥

हिन्दी व्याख्या—युक्ति का लक्षण करते हैं - 'युक्तिः' इत्यादि। जहाँ विचित्र अन्य अर्थ के सम्बन्ध से यदि किसी वर्णनीय वस्तु में किसी विशेष अर्थ की सिद्धि होती हो (युक्तिविशेष के द्वारा विशेषार्थ की सिद्धि के कारण) वहाँ युक्ति नामक लक्षण होता है।

इसका उदाहरण जैसे—'नवस्त्वम्' इत्यादि । हे राजन् ! आप कोई विलक्षण नवीन नीरद (मेघ) हैं, क्योंकि बार-बार स्वर्ण की वर्षा करते हैं। यह किसी दानशील राजा का वर्णन है। सुवर्ण की वर्षा एक विचित्र अर्थ है। इसके सम्बन्ध से राजा में नीरदत्व का प्रतिपादन किया गया है। नीरद का कार्य है—जलवर्षण। यह राजा स्वर्ण-वर्षण करता है। राजा में यह विलक्षणता है। इस प्रकार स्वर्ण-वर्षणरूप विचित्र अर्थ के सम्बन्ध से राजा में विलक्षण जलदत्व की सिद्धि होती है इसमें युक्ति है रूपक। अतः यह युक्ति नामक लक्षण का उदाहरण है ॥९॥

कार्यं फलोपलम्भश्चेद्व्यापाराद्वस्तुतोऽथवा ।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम् ॥१०॥

संस्कृत व्याख्या—कार्यं लक्षयति—कार्यमित्यादि। चेत् यदि व्यापारात् कस्यचिदन्यवस्तुव्यापारात् अथवा वस्तुतः स्वतः विशेषहेतोः हेतुं विनैव वा फलस्य कार्यस्य उपलम्भः प्राप्तिः स्यात् तत्र कार्यं नाम लक्षणं स्यादिति। इदमेव कार्यनामकं लक्षणं हेतुत्वात् काव्यलिङ्गालङ्कारः, हेतुं विना विभावनाऽलङ्कार इत्युच्यते।

अस्योदाहरणं यथा—'असावुदेति' इत्यादि। असौ दृश्यमानः शीतांशुः चन्द्रः सुभ्रुवां कामिनीनां मानच्छेदाय प्रणयकोपभङ्गाय उदेति उदयाचलारूढो भवति। अत्र सुभ्रुवां मानच्छेदरूपफलोपलम्भे शीतांशोरुदयव्यापारो हेतुः। एवञ्चात्र व्यापारात् फलोपलम्भरूपं कार्यनामकं लक्षणमिति ॥१०॥

हिन्दी व्याख्या—कार्यं का लक्षण करते हैं—'कार्यम्' इत्यादि। यदि किसी व्यापार के कारण अथवा स्वतः (कारण के बिना ही) फल की प्राप्ति का वर्णन किया जाय, वहाँ कार्यं नामक लक्षण होता है। यही कार्यं नामक लक्षण कारण के आधार पर होने की स्थिति में काव्यलिङ्ग अलङ्कार तथा बिना कारण के होने की स्थिति में विभावना अलङ्कार कहलाता है।

इसका उदाहरण जैसे—'असावुदेति' इत्यादि। यह शीतांशु (चन्द्रमा) सुन्दर भौंहों वाली कामिनियों का मानभङ्ग करने के लिये उदित हो रहा है।

इस वाक्य में कामिनियों का मानभङ्ग फल तथा चन्द्रोदय कारण है। इस चन्द्रोदयरूप व्यापार के कारण मानभङ्गरूप फल की प्राप्ति होने के कारण यह व्यापारात्फलोपलम्भरूप कार्यनामक लक्षण का उदाहरण हुआ ॥१०॥

इत्यादि लक्षणं भूरि काव्यस्याहुर्महर्षयः।
स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वप्रभृतीव महीभुजः ॥११॥

संस्कृत व्याख्या—एवञ्चाक्षरसंहति-शोभाऽभिमान-हेतु-प्रतिषेध-निरुक्त-मिथ्याध्यवसाय-सिद्धि-युक्ति-कार्येत्यादि दशसंख्याकम् इत्यादिपदादन्यदप्यत्र न प्रतिपादितञ्च काव्यस्य लक्षणं काव्यस्योत्कर्षकं तत्त्वं महर्षयो महामुनयो भरतादयः आहुः प्रतिपादयन्तिस्म। तद्दृष्टान्तयति—स्वर्णवत् सुवर्णवद् भ्राजिष्णुः देदीप्यमानश्चासौ भालो ललाटस्तस्य भावः तत्प्रभृति तदित्यादि महीभुजो राज्ञः इव यथा। अर्थाद्यथा—सामुद्रिकशास्त्रे राज्ञो लक्षणत्वेन स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वादिकमुक्तमस्ति तथैव काव्यस्यैतानि लक्षणान्युक्तानि सन्ति। यथा च स्वर्णभ्राजिष्णुललाटत्वं नृपत्वप्रतिपादकं तदुत्कर्षसाधकत्वञ्च भवति तथैवैतानि लक्षणानि काव्यस्य काव्यत्वप्रतिपादकानि तदुत्कर्षसाधकानि च भवन्ति ॥११॥

हिन्दी व्याख्या—इस प्रकार अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, हेतु, प्रतिषेध, निरुक्त, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, युक्ति तथा कार्य इत्यादि, (इत्यादिपद से और भी जो यहाँ प्रतिपादित नहीं हैं) काव्य के लक्षण होते हैं—ऐसा महर्षियों ने कहा है। जैसे—सामुद्रिकशास्त्र में सुवर्ण के समान ललाट का चमकना आदि राजा के लक्षण माने गये हैं। स्वर्ण के समान ललाट का चमकना इत्यादि जैसे नृपत्व के प्रतिपादक तथा उत्कृष्टता के सम्पादक हैं, उसी प्रकार काव्य के ये लक्षण भी काव्यत्व एवं काव्य के उत्कर्ष—दोनों के प्रतिपादक हैं ॥११॥

महादेवः सत्रप्रमुखमखविद्यैकचतुरः
सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।
तृतीयस्तेनासौ सुकविजयदेवेन रचिते
चिरं चन्द्रालोके सुखयतु मयूखः सुमनसः ॥१२॥

॥ इति श्रीजयदेवविरचिते चन्द्रालोके लक्षण-
निरूपणं नाम तृतीयो मयूखः समाप्तः ॥

संस्कृत व्याख्या—महादेवः सुमित्रा च यस्य पितरौ स्तः तेन सुकविना जयदेवेन बिरचिते चन्द्रालोके असौ तृतीयो मयूखः सुमनसः सहृदयान् चिरं सुखयतु ॥१२॥

हिन्दी व्याख्या—महादेव तथा सुमित्रा जिसके माता-पिता हैं, उस महाकवि जयदेव के द्वारा विरचित चन्द्रालोक में यह तीसरा मयूख सहृदयों को चिर काल तक आह्लादित करे ॥१२॥

॥ श्री जयदेव के द्वारा विरचित चन्द्रालोक में यह लक्षण-
निरूपण नामक तृतीय मयूख समाप्त हुआ ॥

●

चतुर्थो मयूखः

अथ गुणाः

*

संस्कृत व्याख्या—काव्यलक्षणघटकीभूतेषु लक्षणं लक्षयित्वा सम्प्रति प्राप्तावसरः गुणान्निरूपयति 'अथ गुणाः' इति। गुणस्वरूपप्रतिपादने तत्तदाचार्यैः अनेके विचाराः प्रतिपादिताः सन्ति। अध्यात्मप्राणायाः भारतीयायाः संस्कृतेः प्रभावो नहि केवलं दर्शनेष्वेव जातः, अपि तु काव्यशास्त्रेष्वपि तत्प्रभावो भूयान् दृश्यते। अतएव काव्यस्वरूपप्रतिपादने काव्यशास्त्रिभिरपि लोकवत् शरीरस्य, तदवयवसंस्थानस्य, अपकर्षकाणां दोषाणाम्, उत्कर्षकाणां गुणालङ्कारादीनां कल्पना कृताऽस्ति। 'शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवद्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्' इति। एषु गुणः उत्कर्षहेतुत्वेन कल्पितोऽस्ति। यथोक्तं साहित्यदर्पणे—'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः'।' साहित्यदर्पणकारेण सामान्यतयोक्तेषु उत्कर्षहेतुषु वामनेन द्वैविध्यं प्रतिपादितम्—काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः, तदतिशयहेतवश्चेति। अनयोर्गुणाः काव्यशोभाकर्त्तारः अलङ्कारस्तु तदतिशयकर्तार इति। यथा—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ॥'—३. १. १ ॥

'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' ॥—३. १. २. इति ॥

काव्यप्रकाशकारमते तु अङ्गिन आत्मनः शौर्यादय इव अङ्गिनः काव्यात्मभूतस्य रसस्य ये अचलस्थितयो धर्मास्ते गुणा इति—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥'

एवम्—रसोत्कर्षहेतुत्वे सति अचलस्थितित्वं गुणत्वमिति गुणस्य सामान्यं लक्षणम्। अचलस्थितित्वेन नियमेन रसोपकारकत्वमिति तत्स्वरूपं परिनिष्ठितम्।

नवीनैस्त्वयं गुणः अर्थधर्मत्वेन माधुर्यौजः प्रसादतया त्रिषु भागेषु विभक्तमस्ति। प्राचीनैस्तु शब्दार्थोभयधर्मत्वेन शब्दार्थभेदेन शब्दगुणाः अर्थगुणाश्चेति भेदाः प्रतिपादिताः। यथोक्तं वामनेन—

'ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः'—३. १. ४।

'त एवार्थगुणाः.....' ॥—३. २. १॥

काव्ये गुणानां महत्त्वं प्रतिपादयता च वामनेनोक्तम्—

'युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं
स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः
सदलङ्कारदिव्यकल्पनाभिः॥

तथा च—

'यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो
वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं
नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते' ॥ इति ॥

हिन्दी व्याख्या—काव्यलक्षणघटकभूत तत्त्वों में से 'लक्षण' के स्वरूप का प्रतिपादन करने के बाद अवसर पाकर गुण के स्वरूप का निरूपण करते हैं—'अथ गुणाः' इति। गुण के स्वरूप-प्रतिपादन में अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार का विचार व्यक्त किया है। अध्यात्मप्राणा भारतीय-संस्कृति का प्रभाव न केवल भारतीय दर्शनों पर ही पड़ा, अपितु काव्यशास्त्र ग्रन्थ भी इससे अछूते नहीं रह गये। अतएव जैसे—लोक में शरीर, अवयवसंस्थान, आत्मा के उत्कर्ष कशौर्यादि अपकर्षक दोषादि की कल्पना की गई है, उसी प्रकार काव्य में शरीर, आत्मा, गुण, अलङ्कार, रीति, दोष, आदि की कल्पना देखी जाती है। जैसा कि कहा है—

'शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटक-कुण्डलादिवत्, रीतयो अवयवसंस्थानविशेषवत्, दोषाः काणत्वादिवत् ।'

(शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर, रसादि आत्मा हैं, गुण-शौर्यादि के समान, अलङ्कार कटककुण्डल के समान, रीतियाँ अवयवसंस्थान के समान तथा दोष काणत्व आदि के समान हैं ।) इनमें से गुण काव्य के उत्कर्षक के रूप में हैं । जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा है—

'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः' ।

साहित्यदर्पणकार के द्वारा सामान्यतया उक्त उत्कर्ष-हेतुओं में वामन ने द्वैविध्य का प्रतिपादन करते हुये काव्यशोभा के कर्त्ता धर्मों को गुण तथा उनमें अतिशयसम्पादक धर्मों को अलङ्कार माना है--

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः ॥'– ३. १. १ ॥
'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः ॥'—३. १. २. इति ।

काव्यप्रकाशकार के मत में शरीर में अङ्गी आत्मा के धर्म जैसे शौर्यादि हैं, उसी प्रकार काव्य के आत्मा रस के जो नियत धर्म हैं, उन्हें गुण कहते हैं—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥'

इस प्रकार—'रसोत्कर्षहेतुत्वे सति अचलस्थितित्वं गुणत्वम्' (उत्कर्ष करते हुए रस के नियत धर्म को गुण कहते हैं) । यह गुण का परिनिष्ठित लक्षण सम्पन्न है ।

नवीन आचार्यों ने इन गुणों को अर्थ का धर्म मानते हुये माधुर्य, ओजः तथा प्रसाद--इन तीन रूपों में विभक्त किया है, किन्तु प्राचीन आचार्य शब्द तथा अर्थ—इन दोनों को धर्म मानते हुये शब्दार्थभेद से शब्दगुण तथा अर्थगुण, ये भेद प्रतिपादित किया है । जैसा कि वामन ने कहा है—

'ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्ध-गुणाः ।'—३. १. ४ ।

'त एवार्थगुणाः' ॥—३. २. १ ॥

[ओज, प्रसाद. श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति तथा कान्ति—ये दश बन्धगुण (शब्दगुण) हैं। वे ही (इसी नाम वाले) अर्थगुण भी होते हैं।]

भरत मुनि ने भी दश गुणों को ही माना है। दण्डी तथा वाग्भट भी दश गुण ही मानते हैं, किन्तु मम्मट के समकालीन भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में गुणों की संख्या २४ (चौबीस) माना है। प्रस्तुत ग्रन्थ में महाकवि जयदेव ने केवल आठ गुणों को ही माना है। वामन आदि के द्वारा माने गये कान्ति तथा अर्थव्यक्ति—इन दो गुणों को जयदेव ने नहीं माना है, अपितु शृङ्गार रस में कान्ति एवं प्रसाद में अर्थव्यक्ति का अन्तर्भाव माना है।

काव्य में गुणों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुये वामन ने कहा है—'युवतेरिव रूपमङ्गं काव्यम्' इत्यादि तथा—'यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यः' इत्यादि। अर्थात्—

'जैसे—किसी सुन्दरी युवती का अङ्ग अलङ्काररहित होने पर भी केवल गुणों के द्वारा रसिकों को रुचिकर लगता है तथा उत्तम अलङ्कारों की योजना से अत्यधिक रति उत्पन्न करता है, उसी प्रकार काव्य अलङ्कारों के बिना भी केवल गुणों के द्वारा सहृदयों को आनन्द प्रदान करता है तथा निरन्तर उत्तम अलङ्कारों की योजना से सहृदयों के हृदय को आकृष्ट कर लेता है।'

'किन्तु नायिका के यौवनरहित शरीर पर स्वभावतः सुन्दर अलङ्कार भी जैसे शोभाहीनता को प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही यदि कविवाणी गुणों से रहित हो तो सहृदयों को आकृष्ट करने वाले अलङ्कार भी निश्चय ही शोभाहीन होकर शोभाविघातक हो जाते हैं।'

गुणानां भेदप्रतिपादनमुखेन तत्स्वरूपं प्रतिपादयन् पूर्वं श्लेषं निरूपयति—

श्लेषो विघटमानार्थघटमानत्ववर्णनम् ।

स तु शाब्दः सजातीयैः शब्दैर्बन्धः सुखावहः ॥१॥

संस्कृत व्याख्या—श्लेषं निरूपयति—श्लेष इति । विघटमानः संयोजनामप्राप्यमाणश्चासौ अर्थस्तस्य असम्भविनोऽर्थस्य घटमानत्वेन सम्भवत्वेन वर्णनं रमणीयार्थप्रतिपादके संयोजनं श्लेषः अर्थश्लेष इति संयोजनीयम् । एवमसम्भवार्थवर्णनत्वमर्थश्लेषत्वमिति अग्रे शाब्दस्य श्लेषस्य प्रतिपादनत्वात् । सजातीयैः समानैः शब्दैः सुखावहः सुखकरः बन्धो रचना शाब्दः शब्दमूलः स श्लेष इति । एवं 'समानाकारशब्दप्रयोगत्वं' शब्दश्लेषत्वमिति । अत्र ग्रन्थकारेण श्लेषस्य यत्स्वरूपं प्रतिपादितं तत्र प्रसिद्धश्लेषस्य सुषमा नास्ति । प्रसिद्धः श्लेषस्तु अलङ्कारप्रकरणे प्रदर्शयिष्यते । अत्र गुणप्रकरणे विलक्षण एव कश्चित् श्लेषः प्रदर्शितोऽस्ति । यथा वामनेनापि कथितम्—'मसृणत्वं श्लेषः' इति ।

शब्दश्लेषार्थश्लेषयोः भेदस्तु संक्षेपेणैवं प्रदर्श्यते—यत्र समासाभावात् स्वरितादिभेदाभावात् अभिन्नप्रयत्नोच्चार्यैः शब्दैः 'एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन' अनेकेषामर्थानां प्रतिपादनात् असम्भविनोऽप्यर्थस्य वर्णनं जायते तत्र एकस्मिन्नेव शब्दे अनेकार्थानां श्लिष्टत्वात्—अर्थश्लेषः । यत्र समासात् स्वरितादिभेदात् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणाम्, अतएव भिन्नानाम्, किन्तु अक्षरमात्रादिरूपेण सजातीयानां (समानाकाराणां) शब्दानां प्रयोगः क्रियते, अतएव—'अर्थभेदेन शब्द भेदः' तथा च 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थमवगमयति' इत्यादिसिद्धान्तानां जागरूकतया 'जतुकाष्ठ'-न्यायेन परस्परं श्लिष्टैस्तैः शब्दैः अनेकार्थप्रतिपादनात् सुखावहो बन्धो जायते, तत्र शब्दश्लेषः—इति श्लेषस्य द्वौ भेदौ भवतः ।

वस्तुतस्तु शब्दार्थश्लेषत्वे अन्वयव्यतिरेक एव नियमः । 'तत्सत्त्वे तत्सत्ता—अन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' इति । एवं यच्छब्दसत्त्वे श्लेषो जायते, यच्छब्दाभावे श्लेषाभावो जायते स शब्दश्लेषः । यच्छब्दपरिवर्तनेन श्लेषे न काऽपि क्षतिः स अर्थश्लेष इति बोध्यम्

हिन्दी व्याख्या—श्लेष का निरूपण करते हैं—श्लेष इत्यादि । विघटमान (काव्यबन्ध की संयोजना को न प्राप्त होने वाले) अर्थ को भी जहाँ घटमान

(योजनानुकूल) बना दिया जाय, उसे श्लेष (अर्थश्लेष) कहते हैं। इस प्रकार असम्भवार्थ प्रतिपादनत्व अर्थश्लेष का लक्षण हुआ तथा सजातीय (समानाकार) शब्दों के प्रयोग से जहाँ बन्ध (रचना) सुखावह (श्रुतिसुखकर अथवा सुगम) हो जाता है, उसे शब्दश्लेष कहते हैं। इस प्रकार 'समानाकारशब्दप्रयोगत्व' शब्दश्लेष का लक्षण है।

यहाँ ग्रन्थकार ने श्लेष का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, उसमें प्रसिद्ध श्लेष का कोई सौन्दर्य नहीं है। प्रसिद्धश्लेष अलङ्कार-प्रकरण में प्रदर्शित किया जायेगा। यहाँ गुण के प्रकरण में किसी विलक्षण श्लेष को ही प्रदर्शित किया गया है। जैसा कि वामन ने भी कहा है—'मसृणत्वं श्लेषः'।

शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष का भेद संक्षेपतः प्रदर्शित किया जा रहा है--

तात्पर्य यह है कि श्लेष दो प्रकार का होता है—शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष। जहाँ समास तथा स्वरितादि के भेद न होने के कारण अभिन्न प्रयत्न से उच्चरित शब्दों के द्वारा' एकवृन्तगतफलद्वयन्याय' से अनेक अर्थों का प्रतिपादन होने से असम्भव अर्थ का भी वर्णन कर दिया जाता है, वहाँ एक ही शब्द में अनेक अर्थों का श्लेष होने के कारण—अर्थश्लेष होता है। जहाँ समास के कारण स्वरित आदि के भेद से भिन्न प्रयत्नों के द्वारा उच्चरित अतएव भिन्न किन्तु अक्षर, मात्रा आदि के रूप में सजातीय (समानाकार वाले) शब्दों का प्रयोग किया जाता है, अतएव--'अर्थभेदेन शब्दभेदः' (अर्थ के भेद से शब्द में भेद हो जाता है) तथा 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थमवगमयति' (एक बार उच्चरित शब्द एक अर्थ की ही प्रतीति करा सकता है।) इत्यादि सिद्धान्तों के जागरूक रहने के कारण 'जतुकाष्ठ'-न्याय से परस्पर में श्लिष्ट (जिस प्रकार लाक्षा लगाकर दो काष्ठ को एक में सटा दिया जाता है, तब देखने पर तो वह एक लगता है, किन्तु उसमें दो काष्ठ होते हैं। उसी प्रकार जहाँ शब्द वस्तुतः दो हों किन्तु वे इस तरह श्लिष्ट हो गये हैं कि देखने में बिल्कुल एक मालुम पड़ते हों) शब्दों के प्रयोग से अनेकार्थ का प्रतिपादन हो, जिससे बन्ध (रचना) सुखकर हो जाय, वहाँ शब्दश्लेष होता है।

वस्तुतः शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष का निर्धारण 'अन्वयव्यतिरेक' के आधार पर होना चाहिये। 'तत्सत्त्वे तत्सत्ता' (उसके रहने पर उसका रहना) अन्वय कहलाता हैं तथा 'तदभावे तदभावः' (उसके न रहने पर उसका भी न रहना) व्यतिरेक कहलाता है। इस प्रकार जिस शब्द के रहने पर श्लेष का चमत्कार बनता हो (अन्वय), वहाँ शब्दश्लेष तथा जिस शब्द के न रहने पर श्लेष का चमत्कार न रहे (व्यतिरेक), वहाँ अर्थश्लेष होगा। शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष में यही अन्तर समझना चाहिए ॥१॥

श्लेषमुदाहरति—

उल्लसत्तनुतां नीतेऽनन्ते पुलककण्टकैः।
भीतया मानवत्यैव श्रियाश्लिष्टं हरिं स्तुमः ॥२॥

संस्कृत व्याख्या—पुलककण्टकैः कण्टवत्प्रतीयमानैः कामभावोत्पन्नरोमाञ्चैः उल्लसन्ती देदीप्यमाना स्फुरन्ती तनुः शरीरं यस्य तस्य भावस्तां नीते प्राप्ते अनन्ते शेषनागे मानवत्या धृतप्रणयकोपयापि भीतया भयं प्राप्तया श्रिया लक्ष्म्या आश्लिष्टं समालिङ्गितं हरिं भगवन्तं विष्णुं स्तुमः प्रणमामः। अत्र मानवत्यापि श्रिया स्वतः आलिङ्गनमसम्भवम्, किन्तु शेषनागभयरूपया युक्त्या तत्प्रतिपादनमिति असम्भवार्थघटनयाऽर्थश्लेषत्वम्। 'नीतेऽनन्ते' इत्यादीनां पदानां समानाकारात् शब्दश्लेषत्वम् ॥२॥

हिन्दी व्याख्या--रोमाञ्चरूपी कण्टकों के द्वारा शेष के उल्लसित शरीरता को प्राप्त होने पर मानिनी भी लक्ष्मी के द्वारा भयवश आलिङ्गित भगवान् विष्णु की हम स्तुति करते हैं। (कभी लक्ष्मी मान किये बैठी थीं किन्तु भगवान् की शरीर के स्पर्श से उनकी शरीर रोमाञ्चित हो उठी। उनकी शरीर के रोमाञ्च कण्टक शेषनाग की शरीर में लग गये, जिससे उनकी शरीर उल्लसित हो गई। इस प्रकार भयभीत लक्ष्मी ने मान को छोड़ कर स्वयं भगवान् का आलिङ्गन कर लिया।)

प्रस्तुत वाक्य में मानिनी लक्ष्मी के द्वारा स्वतः आलिङ्गन करना असम्भव है, किन्तु शेषनाग के भयरूप युक्ति के द्वारा इसका प्रतिपादन किया गया है।

अतः असम्भव अर्थ की घटना के कारण यह अर्थश्लेष हुआ। 'नीतेऽनन्ते' इत्यादि पदों में अनुप्रास के कारण समानाकारता है, अतः यहाँ शब्दश्लेष भी है ॥२॥

प्रसादं विशदयति—

यस्मादन्तःस्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते।
सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः ॥३॥

संस्कृत व्याख्या—प्रसादं लक्षयति—'यस्मादन्तः' इत्यादि। सूक्तस्य कविना निबद्धस्य काव्यस्य यस्माच्छब्दात् रचनाया वा अन्तः भितरि गूढतया स्थितः वर्तमानः सर्वः सम्पूर्णः अर्थः स्वयमात्मनैव प्रयासं विनैव अवभासते, सलिलस्य जलस्य इव यथा अन्तःस्थितः अन्तर्वर्तमानः सर्वः सकलः अर्थो वस्तुनिकरः स्वयमेव अवभासते प्रकटं दरीदृश्यते तद्वत्, स प्रसादः प्रसादनामको गुण इति स्मृतः वर्णितः।

अर्थात् स्वच्छे जले विद्यमानं निखिलं वस्तु केनचिदायासेन विनैव स्पष्टं जायते तत्र जलस्य प्रसादः स्वच्छता कारणं भवति, तथैव यत्र गूढोऽपि कविनिबद्धोऽर्थः स्वयं प्रकटो जायते स प्रसादनामको गुणो भवति। यथोक्तं साहित्यदर्पणे—

'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥'

अत्यन्त स्पष्टार्थतया इदमेव प्रसादस्योदहरणम् ॥३॥

हिन्दी व्याख्या—प्रसाद गुण का स्वरूप बतलाते हैं—'यस्मादन्तः' इत्यादि। कविनिबद्ध काव्य के जिस शब्द अथवा रचना से उसके अन्दर गूढ रूप में रहने वाला सम्पूर्ण अर्थ स्वतः अवभासित हो जाय, जैसे—स्वच्छ जल के भीतर रहने वाली वस्तु स्वतः प्रकट हो जाती है, उसे प्रसाद कहते हैं। अर्थात् स्वच्छ के भीतर रहने वाली वस्तु बिना किसी प्रयास के प्रकट दिखलाई देती है उसमें जल का प्रसाद (स्वच्छता) कारण है (उस जल को स्वच्छ मानते हैं), वैसे ही जहाँ कविनिबद्ध गूढ अर्थ स्वतः प्रकट हो जाय उसे भी प्रसाद (नामक गुण) से अभिहित करते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा है—

'सूखी लकड़ी में आग के समान जो शीघ्र ही चित्त को व्याप्त कर ले, उसे प्रसाद कहते हैं। यह प्रसाद गुण सभी रसों में तथा सभी रचनाओं में होता है।'

इस श्लोक का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण यही प्रसाद गुण का उदाहरण भी है ॥३॥

समतां लक्षयति—

समताऽल्पसमासत्वं वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथ वा।
श्यामला कोमला बाला रमणं शरणं गता ॥४॥

संस्कृत व्याख्या—समतां लक्षयति—'समते'त्यादि। अल्पसमासत्वं, मध्यमसमासत्वं, न्यूनसमासत्वम् असमासत्वं वा समतेति। एतेन दीर्घसमासत्वमात्रं खण्डितम्। अथवा वर्णाद्यैः वर्णमात्रास्वरादिभिः तुल्यता पदानां समानता समतेति कथ्यते।

समतामुदाहरति—'श्यामले'त्यादि। 'श्यामल (श्यामा अथवा श्यामवर्णा) तथा कोमलाङ्गी बाला रमणं नायकं शरणम् आश्रयं सन्निकटं वा गता प्राप्ता। अस्मिन् वाक्ये समासो नास्ति। अतएव समासाभावात् समताया उदाहरणमिदम्। एवञ्च कविना समतालक्षणे अल्पसमासत्वपदेन नहि केवलमल्पसमासत्वमेव कल्पितम्, अपि तु समासाभावत्वमपि, अन्यथा वाक्यमिदं समताया उदाहरणं नास्ति समासाभावात्। एवञ्चासमासत्वमपि समताया लक्षणमिदमपि ज्ञेयम्। यथोक्तं ध्वनिकारेण—

'असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता॥'

वामनेन तु 'मार्गभेदः समता' इति समतालक्षणं कृतम्। अर्थाद्येन मार्गेणोपक्रान्तं तस्यात्यागः समतेति ॥४॥

हिन्दी व्याख्या—समता का लक्षण करते हैं—'समता' इत्यादि। 'अल्पसमासत्व समता का लक्षण है'। इसमें अल्पसमास से छोटा समास तथा असमास (समास का न होना)—ये दोनों ही अभीष्ट हैं। इससे केवल दीर्घसमास का ही

खण्डन किया गया है। समता का दूसरा लक्षण है—वर्ण, मात्रा, स्वर आदि के कारण पदों की तुल्यता (समानता) को समता कहते हैं।

समता का उदाहरण देते हैं--'श्यामला' इत्यादि। 'श्यामला (श्यामा अथवा श्यामवर्णा) तथा कोमला (कोमलाङ्गी) बाला रमण (नायक) के शरण (आश्रय या समीप) में पहुँच गई।' इस वाक्य में समास नहीं है। अतएव समास न होने के कारण यह समता का उदाहरण हुआ।

इस प्रकार समता के लक्षण कहे गये अल्पसमास पद से केवल कम (छोटा) समास होना ही कवि को अभीष्ट नहीं है, अपितु असमासत्व (समास का न होना) भी अभीष्ट है, अन्यथा यह वाक्य समता का उदाहरण नहीं हो पाता, क्योंकि इसमें समास है ही नहीं। अतः असमासत्व को भी समता का लक्षण समझना चाहिये। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है--'असमासा' इत्यादि। अर्थात् सङ्घटना (वाक्य-रचना) तीन प्रकार की होती है--असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा। वामन ने तो 'मार्गभेदः समता' यह समता का लक्षण करते हुये—'जिस मार्ग से प्रारम्भ किया हो उसका त्याग न करना' को समता माना है ॥४॥

समाधिं लक्षयति—

समाधिरर्थमहिमा लसद्घनरसात्मना।
स्यादन्तर्विशता येन गात्रमङ्कुरितं सताम् ॥५॥

संस्कृत व्याख्या--समाधिं लक्षयन्नाह--समाधिरर्थेत्यादि। अर्थमहिमा समाधिरिति लक्षणम्। किं विधोऽर्थमहिमा समाधिरिति विशेषजिज्ञासायामुच्यते—लसत् प्रशमानः घनः सान्द्रश्चासौ रसः लसद्घनरसः, स एव आत्मा स्वरूपं यस्य तेन रसस्वरूपेणेति तथा च अन्तः सहृदयमनसि विशता प्रविशता येन सतां काव्यभावनापरिपक्वहृदयानां सहृदयानां गात्रं शरीरम् अङ्कुरितं रोमाञ्चितं चमत्कृतं स्यात् जायेत् स अर्थस्य महिमा वैशिष्ट्यं समाधिरित्युच्यते। यथा—चित्तवृत्तिनिरोधं कृत्वा योगी आनन्दघनं रसात्मकं ब्रह्म पायं पायं मनसि प्राप्तेनानुभूयमानेन

चमत्कारस्वरूपेण ब्रह्मणा तद्गात्रं कण्टकितं जायते सा अवस्था समाधिनाम्नोच्यते, तद्वदत्रापि ज्ञेयम् । अर्थचमत्कारादिदमेव समाधेरुदाहरणम् ॥५॥

हिन्दी व्याख्या—समाधि का लक्षण करते हुये कहा है--'समाधिरर्थ' इत्यादि । 'अर्थ की महिमा को समाधि कहते हैं ।' किस प्रकार की अर्थमहिमा ? इस विशेष जिज्ञासा में विशेषण दिया है--प्रकाशमान एवं घन (सान्द्र) रस ही है स्वरूप जिसका तथा सहृदयों के अन्तःकरण में प्रवेश करते ही जो काव्य-भावना से परिपक्व हृदय वाले सहृदयों की शरीर को अङ्कुरित (रोमांचित अथवा चमत्कृत) कर देता है, उस अर्थ की महिमा (वैशिष्ट्य) को समाधि कहते है । जैसे--कोई योगी चित्तवृत्ति का निरोध करके आनन्दघन रसात्मक ब्रह्म का रसास्वादन करता है तथा अतःकरण में जब चमत्कारात्मक ब्रह्म की अनुभूति करता है, तब उसकी शरीर रोमाञ्चित हो उठती है । योगी की अवस्था को समाधि कहते हैं । इसी प्रकार यहाँ भी समाधि गुण को मानना चाहिये ।

चमत्कारी अर्थ का प्रतिपादन करने के कारण यही समाधि का उदाहरण भी है ॥५॥

माधुर्यं लक्षयति—

माधुर्यं पुनरुक्तस्य **वैचित्र्यं** चारुतावहम् ।
वयस्य पश्य पश्यास्याश्चञ्चलं लोचनाञ्चलम् ॥६॥

संस्कृत व्याख्या--माधुर्यस्वरूपं प्रतिपादयन्नाह--'माधुर्यं पुनरुक्तस्य' इत्यादि । पुनः भूयो भूयः उक्तस्य कथितस्य चारुतावहं चमत्कारधारकं वैचित्र्यं लोकोत्तराह्लादजनकं वैशिष्ट्यं चमत्कारो वा माधुर्यं माधुर्यनामको गुण इति । पुनरुक्तत्वे सति चमत्कारत्वं माधुर्यमिति लक्षणं सम्पन्नम् ।

तदुदाहरति—'वयस्ये'त्यादि । वयस्य ! मित्र अस्याः पुरतो विद्यमानायाः नायिकायाः चञ्चलं लोचनयोः नेत्रयोः अञ्चलं प्रान्तभागं पश्य पश्य अवलोकयावलोकयेत्याश्चर्ये द्विरुक्तिः । अत्र 'पश्य पश्य, ञ्चलं ञ्चलम्' इत्यत्र पुनरुक्तिः । सत्यपि पुनरुक्ते तरुण्याः कटाक्षस्य चमत्कारि वर्णनमस्तीति माधुर्यं नाम गुणः ।

इदं माधुर्यं द्रुतिकारणत्वेनान्यैः प्रतिपादितमस्ति—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति। अस्य माधुर्यस्य सङ्घटनात्मके स्वरूपे असमासत्वमल्पसमासत्वं वा प्रतिपादितमन्यैः। यथा साहित्यदर्पणे--

'अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।'

इति वैदर्भीं रीतिं लक्षयता विश्वनाथेन असमासाया अल्पसमाया वा रचनायाः माधुर्यत्वं प्रतिपादितम्। तदेव वामनेनापि कथितम--'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' इति ॥६॥

हिन्दी व्याख्या–माधुर्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है--'माधुर्यं पुनरुक्तस्य' इत्यादि। पुनरुक्ति के होने पर भी चमत्कारी वैचित्र्य (लोकोत्तर आह्लादजनक वैशिष्ट्य या चमत्कार) को माधुर्य कहते हैं। इस प्रकार 'पुनरुक्तत्वे सति चमत्कारत्वम्' यह माधुर्य का लक्षण सम्पन्न होता है।

माधुर्य का उदाहरण देते हैं--'वयस्य' इत्यादि। 'हे मित्र! इस नायिका के चञ्चल लोचनाञ्चल (कटाक्ष) को देखो, देखो।' इस वाक्य में 'पश्य पश्य' तथा 'ञ्चलम् ञ्चलम्' में पुनरुक्ति है। पुनरुक्ति के रहते हुये तरुणी के कटाक्ष का चमत्कारी वर्णन होने के कारण यह माधुर्य का उदाहरण हुआ।

अन्य काव्यशास्त्रियों ने माधुर्य को द्रुति का कारण माना है—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्।' इस माधुर्य के सङ्घटनात्मक स्वरूप में असमासत्व या अल्पसमासत्व को साहित्यदर्पणकार ने प्रतिपादित किया है। जैसे--'अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।'

इस वैदर्भी रीति के स्वरूप-प्रतिपादन के प्रसङ्ग में असमासत्व या अल्पसमासत्व को माधुर्य माना है। इसी को वामन ने पृथक्पदत्व नाम से कहा है--'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' ॥६॥

ओजो लक्षयन्नाह—

ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य संक्षेपो वाऽतिभूयसः।
रिपुं हत्वा यशः कृत्वा त्वदसिः कोशमाविशत् ॥७॥

संस्कृत व्याख्या—ओजसः स्वरूपं प्रतिपादयति—'ओजः स्यादि'त्यादि। प्रौढिः अर्थस्य ओजः वा अथवा अतिभूयसोऽतिविस्तृतस्यार्थस्य संक्षेपः शब्दगतमोजः स्यात्। प्रौढिः कविप्रौढोक्तिः लोके असन्नप्यर्थो यदि केवलया कविप्रौढोक्त्या सिद्धो जायते सा प्रौढिः अर्थगतमोज इति। विस्तृतस्य कथांशस्य संक्षेपेण वर्णनं शब्दगतमोज इति ओजोगुणो द्विविधः।

तदुदाहरति—'रिपुं हत्वे'त्यादि। रिपुं शत्रुं हत्वा यशः कीर्तिं च कृत्वा सम्पाद्य हे राजन्! त्वद् भवतोऽसिः खड्गः कोशं खड्गपिधानम् आविशत् प्राविशत्। अस्मिन् वाक्ये रिपुहननक्रियायाः कर्त्ता राजा एवास्ति तथापि प्रौढोक्त्या असेः कर्तृत्वं प्रतिपादितमस्ति। एवञ्चात्रार्थगतमोज इति। शत्रुहननं यशोविस्तारः इत्यादि विस्तृतानामंशानां संक्षेपतो वर्णनाच्छब्दगतमोजोऽपीति।

अन्यैस्तु चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमोजस्त्वेन वर्णितमस्ति—'ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।' इति साहित्यदर्पणोक्तेः। इतरे तु 'दीर्घसमासत्वमोजः' इति कथयन्ति। वामनस्तु गाढबन्धत्वमोजस्त्वेन लक्षयति—'गाढबन्धत्वमोजः।' इति। गाढबन्धत्वं तु दीर्घसमासत्वम्, वक्तुरौद्धत्यम्, श्रुतिकटुशब्दत्वञ्चेति त्रिधा सम्पद्यते ॥७॥

हिन्दी व्याख्या—ओज के स्वरूप का प्रतिपादन करता है—'ओजः स्यात्' इत्यादि। प्रौढि को अर्थगत ओज तथा अतिविस्तृत अर्थ को संक्षेप में कहना शब्दगत ओज कहलाता है। प्रौढि का तात्पर्य है—जो लोक में न हो, केवल कवि की प्रौढोक्ति से सिद्ध हो। संक्षेप का तात्पर्य है अधिक बातों को कम शब्दों में कहना। प्रौढि को अर्थगत ओज तथा संक्षेप का शब्दगत कहते हुये ग्रन्थकार ने ओज का दो भेद प्रतिपादित कर दिया है।

इसका उदाहरण देते हैं—'रिपुं हत्वा' इत्यादि। 'हे राजन्! शत्रु को मार कर तथा यश अर्जित करके आपकी तलवार म्यान में प्रवेश कर गयी।' इस वाक्य में रिपुहननरूपक्रिया का कर्ता राजा को ही होना चाहिये, किन्तु कवि ने अपनी प्रौढोक्ति से असि को ही कर्त्ता के रूप में वर्णित किया है। इस प्रकार प्रौढि

के कारण यह अर्थगत ओज का उदाहरण हुआ। शत्रुहनन, यशोविस्तार इत्यादि विस्तृत कथांशों का संक्षेपतः वर्णन होने के कारण यही श्लोकांश शब्दगत ओज का भी उदाहरण हो जाता है।

अन्य आचार्यों ने चित्तविस्तारूपदीप्तत्व को ओज का लक्षण माना है। जैसा कि साहित्यदर्पण में विश्वनाथ का मत है—

'ओजश्चित्तस्य विस्तारूपं दीप्तत्वमुच्यते।'

अन्य लोगों ने दीर्घसमास को ओजोगुण कहा है। आचार्य वामन ने गाढ-बन्ध को ओज का लक्षण किया है--'गाढबन्धत्वमोजः।' गाढबन्ध से इनका तात्पर्य है--दीर्घसमास, वक्ता की उद्धतता तथा श्रुतिकटुशब्दत्व ॥७॥

सौकुमार्यं लक्षयति--

सौकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात्।
स कथाशेषतां यातः समालिङ्ग्य मरुत्सखम् ॥८॥

संस्कृत व्याख्या--सौकुमार्यस्वरूपमाह—'सौकुमार्ये'त्यादि। पर्यायस्य पारुष्य-वाचकस्य शब्दस्य परिवर्तनात् परिवृत्तेः अपारुष्यं परुषताया अभावः सौकुमार्य-मिति। परुषतावाचकं शब्दमपहाय तत्पर्यायस्य शब्दस्य स्थापनात् अपारुष्यं सौकु-मार्यं नाम गुण इति।

तदुदाहरति--सः मरुद् वायुस्तस्य सखा तं मरुत्सखम् अग्निं समालिङ्ग्य प्रविश्येति भावः, कथामात्रं शेषोऽवशिष्टो यस्मिंस्तत् तस्य भावस्तां कथामात्रा-वशिष्टतां मृतां यातः प्राप्तः। अत्र 'मृतो यातः' इत्यमङ्गलात्मकं पारुष्यम्। तस्य परिवर्तनं कृत्वा 'कथाशेषताम्' इत्युक्त्वा तन्निवृत्तिः कृतेति। पारुष्यस्याभावाद-पारुष्यम्, अपारुष्याच्च सौकुमार्यस्योदाहरणमिदम्।

वामनेनाप्येवमेव सौकुमार्यं लक्षितम्—'अजरठत्वं सौकुमार्यम्।' इति लक्षणात् ॥८॥

हिन्दी व्याख्या—सौकुमार्यं का स्वरूप बतलाते हैं—'सौकुमार्यं' इत्यादि। पर्याय (पारुष्यवाचक शब्द) के परिवर्तन से अपारुष्य (परुषता के अभाव) को सौकुमार्यं कहते हैं।

इसका उदाहरण जैसे—वह (वर्णनीय व्यक्ति) अग्नि का आलिङ्गन कर कथामात्र शेष हो गया अर्थात् मर गया। यहाँ 'मृतो यातः' यह शब्द अमङ्गलवाची है। अतः इसे श्रुतिकटुरूप अपारुष्य कह सकते हैं। इसका परिवर्तन कर 'कथाशेषतां' को रख देने से इस पारुष्य का परिहार हो गया है। अतः अपारुष्यरूप सौकुमार्यं का यह उदाहरण हुआ।

वामन ने भी इसी प्रकार सौकुमार्यं का लक्षण किया है—'अजरठत्वं सौकुमार्यम्।' अजरठत्व (अपारुष्य) को सौकुमार्यं कहते हैं ॥८॥

उदारतां लक्षयति—

उदारता तु वैदग्ध्यमग्राम्यत्वात् पृथङ्मता।
मानं मुञ्च प्रिये किञ्चिल्लोचनान्तमुदञ्चय ॥९॥

संस्कृत व्याख्या—उदारतां लक्षयति—'उदारते'त्यादि। अग्राम्यत्वात् ग्राम्यत्वदोषाभावाद् पृथक् किञ्चिद् विलक्षणं वैदग्ध्यं वर्णनचातुर्यं तु उदारता मता। केचित्तु अग्राम्यत्वात् ग्राम्यत्वदोषाभावेऽन्तर्भावाभावात् पृथक् मता निर्दिष्टा उदारता तु वैदग्ध्यमिति उदारता लक्ष्यम्, वैदग्ध्यं तल्लक्षणमिति कथयन्ति, तदपि युक्तमेव। वस्तुतस्तु 'निर्दोषतैव विगुणस्य गुणा' इति सिद्धान्तदिशा उदारता दोषाभावरूप इति ग्राम्यत्वदोषाभावे उदारतेति। दोषाभावत्वे गुणत्वे च वैशिष्ट्यं प्रतिपादनाय पृथगित्युक्तम्। अर्थात् अग्राम्यत्वमेव वैदग्ध्यमिति पृथग् (विलक्षणं) इत्युक्तम्।

तदुदाहरति—'मानं मुञ्च' इत्यादि। हे प्रिये! मानं मुञ्च त्यज। किञ्चिद्यथा स्यात्तथा लोचनान्तं लोचनकोणभागमुदञ्चय विस्तारय। अत्र किञ्चिद् 'विलोकय' इति ग्राम्योक्तिः तद्विहाय 'उदञ्चय' इति कथने अग्राम्यत्वम्। एवञ्च विलक्षणवैदग्ध्यस्य सत्त्वात् उदारता नामको गुण इति।

वामनेन तु—'विकटत्वमुदारता' इति लक्षयित्वा पदानां नृत्यमानतारूप-चञ्चलतायाः विकटता, विकटतायाश्चोदारता प्रतिपादिता ॥९॥

हिन्दी व्याख्या—उदारता नामक गुण का स्वरूप बतलाते हैं—'उदारता तु' इत्यादि। अग्राम्यत्व (ग्राम्यदोषाभाव) के कारण किसी पृथक् (विलक्षण) वैदग्ध्य (वर्णनचातुर्य) को उदारता कहते हैं। कुछ विद्वान् अग्राम्यत्वात् का अर्थ करते हैं—ग्राम्यत्व दोषाभाव में अन्तर्भाव न होने के कारण। अतः उनके मत में वैदग्ध्य को उदारता कहते हैं। ग्राम्यत्व दोषाभाव में अन्तर्भाव न होने के कारण इसको पृथक् कहा गया है। यह भी व्याख्यान ठीक ही है, क्योंकि दोनों व्याख्याओं में वैदग्ध्य को ही उदारता का लक्षण माना गया है।

वस्तुतस्तु 'निर्दोषतैव विगुणस्य गुणाः' भी एक सिद्धान्त है। इसके अनुसार उदारता को ग्राम्यत्वदोषाभावरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं। दोषाभाव को गुण मानते हुये भी पृथक् (विलक्षण) यह विशेषण लगा दिया है।

इसका उदाहरण देते हैं—'मानं मुञ्च' इत्यादि। हे प्रिये ! मान करना छोड़ दो। मेरे ऊपर अपने लोचन के अन्त (कोणभाग) को डालो अर्थात् सविलास दृष्टि से देखो। इस वाक्य में 'विलोकय' (देखो) यह ग्राम्य उक्ति है। इसे छोड़ कर 'उदञ्चय' कहने से ग्राम्यत्व दोष का परिहार हो जाता है तथा एक विलक्षण वैदग्ध्य की प्रतीति होती है। अतः यह उदारता नामक गुण का उदाहरण है।

आचार्य वामन ने 'विकटत्वमुदारता' यह लक्षण कर पदों के नृत्यमानरूप चञ्चलता को विकटता तथा विकटता को उदारता नामक गुण माना है ॥९॥

एवं स्वकीयाभिमतान् अष्टौ गुणान् लक्षयित्वा वामनाभिमतयोः कान्त्यर्थव्यक्तयोः क्रमशः शृङ्गारे प्रसादे चान्तर्भावत्वं प्रतिपादयन्नाह—

शृङ्गारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसङ्ग्रहः।
अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा ॥१०॥

संस्कृत व्याख्या--कान्ति-अर्थव्यक्तिविषये कथयति--'शृङ्गारे' इत्यादि। शृङ्गारे शृङ्गाररसे प्रसादे प्रसादगुणे च कान्तिस्तन्नामको गुणश्च अर्थव्यक्तिश्च तयोः संग्रहः अन्तर्भावः इति। तत्र वामनेन कान्तिलक्षणं कृतम्--'औज्ज्वल्यं कान्तिः इति। औज्ज्वल्यं पुराणच्छायाऽभावत्वरूपत्वात् नवीनतेति। अर्थस्य नवीनता कान्तिरस्ति। अस्योदाहरणं यथा--

'कुरङ्गीनेत्रालीस्तवकितवनालीपरिसरः।'

इत्यरण्यवर्णने मृगीनेत्रपङ्क्तीनां स्तवकितत्वेन रूपेण सम्भावनं प्राचीनकविवर्णनापेक्षया नूतनामेव पद्धतिमुपस्थापयतीति नाविन्यादौज्ज्वल्याच्चेदं कान्तेरुदाहरणमिति।

कान्तिनामकस्यार्थगुणस्य लक्षणं 'दीप्तरसत्वं कान्तिः' इति कृतमस्ति। तदुदाहरणं च—

'प्रेयान्सायमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनात् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत् प्रत्युत पाणिसम्पुटलसन्नीवीनितम्बं धृतो
धावित्वैव कृतप्रणामकहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः॥'

अत्र विभावादिभिः नायिकानिष्ठरतिरभिव्यक्ता सती शृङ्गाररूपतां गच्छतीति दीप्तरसत्वरूपायाः कान्तेरुदाहरणमिदम्।

अर्थव्यक्तिस्तु झटित्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमिति--'अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः' यद्वा 'वस्तुस्वभावस्फुटत्वम्' इति लक्षणात्। अस्योदाहरणं यथा—

'प्रथममलसैः पर्यस्ताग्रं स्थितं पृथुकेसरै-
विरलविरलैरन्तःपत्रैर्मनाङ् मिलितं ततः।
तदनु वलनामात्रं किञ्चिद् व्यधायि बहिर्दलै-
र्मुकुलनविधौ वृद्धाब्जानां बभूव कदर्थना॥'

अत्र वृद्धकमलानां स्वभावस्य स्फुटत्वमिति अर्थव्यक्तिनामको गुण इति॥१०॥

हिन्दी व्याख्या – स्वकीयाभिमत आठ गुणों का प्रतिपादन करने के बाद वामनाभिमत कान्ति तथा अर्थव्यक्ति नामक गुणों का क्रमशः शृङ्गार रस तथा प्रसाद गुण में अन्तर्भाव का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं —'शृङ्गारे' इत्यादि। शृङ्गार रस तथा प्रसाद गुण में कान्ति तथा अर्थव्यक्ति का संग्रह अन्तर्भाव हो जायेगा। आचार्य वामन ने कान्ति का लक्षण किया है—'औज्ज्वल्यं कान्तिः ।' औज्ज्वल्य पुराणच्छाया के अभाव अर्थात् नवीनता को कहते हैं। इस प्रकार अर्थ की नवीनता (जैसे—अर्थ का वर्णन प्राचीनों ने न किया हो) को कान्ति कहते हैं। इसका उदाहरण है—'कुरङ्गीनेत्रावली' इत्यादि। अरण्य-प्रान्तभाग मृगियों की नेत्रपङ्क्ति से पुष्पित-सा प्रतीत हो रहा है।' इस वाक्य में मृगियों की नेत्रपंक्ति की फूलों के गुच्छों के रूप में सम्भावना की गई है। यह प्राचीन वर्णन की अपेक्षा नवीन पद्धति को प्रस्तुत करता है। अतः नवीनता के कारण यह कान्तिगुण का उदाहरण है।

वामन ने अर्थकान्ति गुण का लक्षण 'दीप्तरसत्व' किया है। दीप्तरसत्व का तात्पर्य है—सुस्पष्टतया रसाभिव्यक्ति। इसका उदाहरण दिया है—'प्रेयान् सायमपाकृतः' इत्यादि। 'सायंकाल शपथपूर्वक (नायिका के) चरणों में सिर रखकर प्रणाम करता हुआ नायक नायिका के द्वारा घर से निकाल दिया गया। दुःखी होकर नायक वास-भवन से अभी दो-तीन कदम भी नहीं गया था, तभी नितम्ब से खिसकते हुये नीवी-वस्त्र को दोनों हाथों से सम्भालती हुई तथा प्रणाम करती हुई नायिका ने दौड़कर उसे (नायक को) पकड़ लिया। अहो! प्रेम की गति बड़ी विचित्र होती है।'

यहाँ विभावादि के द्वारा नायिकानिष्ठ रति अभिव्यक्त होकर शृङ्गाररसता को प्राप्त होती है। अतः यह दीप्तरसत्वरूप कान्ति का उदाहरण है।

अर्थव्यक्ति गुण वहाँ होता है, जहाँ शीघ्र (सुनते-सुनते) अर्थ की प्रतीति हो जाय—'अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः ।' अथवा वस्तुस्वभावस्फुटता को भी (अर्थगत) अर्थव्यक्ति कहते हैं। इसका उदाहरण जैसे—'प्रथममलसैः' इत्यादि। अर्थात्—'वृद्ध कमलों का अग्रभाग पहले तो भारी केसरों (परागों)

से झुक जाता है। उसके बाद दूर-दूर रहने वाली पंखुड़ियाँ परस्पर में कुछ मिल जाती हैं। तत्पश्चात् बाहरी पत्ते कुछ मुरझाने लगते हैं। इस प्रकार विकास-क्रिया में वृद्ध कमलों की दशा निन्दनीय है।'

यहाँ वृद्ध कमलों के स्वभाव का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है। अतः स्वभाव-स्फुटता रूप (अर्थगत) अर्थव्यक्ति नामक गुण का यह उदाहरण है ॥१०॥

गुणालङ्कारयोर्भेदं प्रतिपादयन्नाह—

तिलकाद्यमिव स्त्रीणां विदग्धहृदयङ्गमम्।
व्यतिरिक्तमलङ्कारं प्रकृतेर्भूषणं गिराम् ॥११॥

संस्कृत व्याख्या—स्त्रीणां नायिकानां प्रकृतेः शरीराद् व्यतिरिक्तं पृथक् तिलकाद्यं तिलकादि भूषणमलङ्कारो भवति, तथैव गिरां वाणीनां प्रकृतेः काव्यात् व्यतिरिक्तं विदग्धानां सहृदयानां हृदयङ्गमम् आनन्दवर्धकम् अलङ्कारं श्लेषोपमादि भूषणं भवति। एवञ्चेदं स्पष्टम्—यथा नायिकातिलकादिषु भूष्यभूषणभावोऽस्ति। तत्र नायिका भूष्या तिलकादि च भूषणं तथैव काव्येऽप्यलङ्कार्यालङ्कारभावो भवति। तत्र काव्यात्मभूतं रसादि अलङ्कार्यम्, अनुप्रासोपमादयश्चालङ्कारा इति। अनेनेदमपि स्पष्टं यत्—यथा भूष्यभूषणयोर्भेदो भवति नायिकाऽवयवाः पृथक् भवन्ति कटककुण्डलादयश्चालङ्काराः पृथक् भवन्ति, अलङ्कारैश्च नायिकाऽवयवानां शोभायामाधिक्यं प्रतिपाद्यते, तथैव काव्यशरीरभूताभ्यां शब्दार्थाभ्याम्, काव्याऽऽत्मभूतेभ्यः रसादिभ्यश्चालङ्कारा पृथक् भवन्ति तदुत्कर्षतां च सम्पादयन्ति। एवञ्चालङ्काराः उत्कर्षहेतवः। गुणास्तु एभ्योऽलङ्कारेभ्यः पृथक काव्यशोभासम्पादका भवन्ति। यथाऽनयोर्भेदं प्रतिपादयता वामनेनोक्तम्—

'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा इति ॥'११॥

हिन्दी व्याख्या—गुण तथा अलङ्कार में भेद का प्रतिपादन करते हुये ग्रन्थकार ने कहा है— 'तिलकाद्यमिव' इत्यादि। जैसे—नायिका के शरीर से